अध्याय २२

भक्ति की विधि

इस बाइसवें अध्याय में श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति की विधि का वर्णन किया है। प्रारम्भ में वे जीव विषयक सत्य तथा भक्ति की सर्वश्रेष्ठता का वर्णन करते हैं। इसके बाद वे ज्ञान तथा योग की व्यर्थता बतलाते हैं। सभी परिस्थितियों में जीव के लिए भक्ति-मार्ग स्वीकार करने की संस्तुति की गई है, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं स्पष्ट किया है। तथाकथित ज्ञानियों की ज्ञान-विधि को समय का अपव्यय कहा गया है और इस अध्याय में इसे सिद्ध किया गया है। बुद्धिमान मनुष्य को कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा योग की विधियों का परित्याग कर देना चाहिए। मनुष्य को इन व्यर्थ की विधियों का परित्याग करके कृष्णभावनामृत के मार्ग को निष्ठा के साथ ग्रहण करना चाहिए। इस तरह उसका जीवन सफल हो सकेगा। यदि वह पूर्णरूपेण कृष्णभावना को अपनाता है, तो भले ही बीच-बीच में वह ज्ञान तथा योग के पूर्वाभ्यास के कारण उत्तेजित होता रहे, किन्तु स्वयं कृष्ण उसकी रक्षा करेंगे। सच तो यह है कि शुद्ध भक्त के आशीर्वाद से ही भक्ति का वरदान मिलता है (*स महात्मा सुदुर्लभः*)। शुद्ध भक्त सर्वोत्तम अध्यात्मवादी होता है और मनुष्य को अपनी सुप्त कृष्णभावना को जाग्रत करने के लिए उस भक्त की कृपा प्राप्त करनी होती है। मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति करनी होती है। यदि मनुष्य को किसी महात्मा के शब्दो में दृढ़ आस्था होती है, तो उसमें शुद्ध भक्ति जाग्रत होगी।

इस अध्याय में श्री चैतन्य महाप्रभु ने शुद्ध भक्त तथा अन्यों में भेद किया है। उन्होंने शुद्ध भक्त के लक्षण भी बतलाये हैं। भक्त का सबसे दुर्जेय शत्रु भोग विलास हेतु स्त्री-संग है। अभक्तों की संगति की भी निन्दा की गई है, क्योंकि

भक्ति-मार्ग में वह भी भयावह शत्रु है। मनुष्य को कृष्ण के चरणकमलों में पूर्णतया समर्पण करना होता है और स्त्रियों तथा अभक्तों के प्रति आकर्षण का परित्याग करना होता है।

पूर्णतया शरणागत भक्तों के छह लक्षण भी इसी अध्याय में वर्णित हैं। भक्ति की दो श्रेणियाँ की गई हैं—वैधी भक्ति तथा रागानुगा भक्ति। वैधी भक्ति में ६४ बातें हैं, जिनमें से अन्तिम पाँच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भक्ति की नौ विधियों में से एक का भी अभ्यास करने से मनुष्य सफल हो सकता है। ज्ञान तथा योग कभी भी भक्ति में सहायक नहीं बनते। पुण्यकर्म, अहिंसा, इन्द्रिय संयम तथा नियमन शुद्ध भक्ति से भिन्न नहीं हैं। यदि कोई भक्ति में लग जाता है, तो सारे सद्गुण पीछे-पीछे चलते हैं। उनका अलग से अनुशीलन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। स्वत:स्फूर्त (रागानुगा) भक्ति का उदय तब होता है जब कोई ऐसे शुद्ध भक्त का अनुयायी बनता है, जिसे ईश्वर का रागानुग प्रेम प्राप्त हो। श्री चैतन्य महाप्रभु ने रागानुग अवस्था में स्थित भक्तों के लक्षणों का वर्णन किया है। उन्होंने उन भक्तों का भी वर्णन किया है, जो शुद्ध भक्तों के पदचिह्नों पर चलने का प्रयास कर रहे हैं।

वन्दे श्री-कृष्ण-चैतन्य-देवं तं करुणार्णवम् ।
कलावप्यति-गूढ़ेयं भक्तिर्येन प्रकाशिता ॥ १॥

वन्दे श्री-कृष्ण-चैतन्य-देवं तं करुणार्णवम् ।
कलावप्यति-गूढ़ेयं भक्तिर्ग्रेन प्रकाशिता ॥ १॥

वन्दे—मैं प्रणाम करता हूँ; **श्री-कृष्ण-चैतन्य-देवम्**—भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु को; **तम्**—उनको; **करुणा-अर्णवम्**—जो कृपा के सागर हैं; **कलौ**—इस कलियुग में; **अपि**—भी; **अति**—अत्यन्त; **गूढ़ा**—गुह्य; **इयम्**—यह; **भक्ति:**—प्रेमभक्ति; **ग्रेन**—जिनके द्वारा; **प्रकाशिता**—प्रकाशित की गई।

अनुवाद

मैं श्री चैतन्य महाप्रभु को सादर नमस्कार करता हूँ। वे दिव्य करुणा के सागर हैं। यद्यपि भक्ति का विषय अत्यन्त गुह्य है, फिर भी उन्होंने इस कलह के युग कलियुग में भी उसे इतनी सुन्दरता से प्रकट किया है।

जय जय श्री-कृष्ण-चैतन्य नित्यानन्द ।
जयाद्वैत-चन्द्र जय गौर-भक्त-वृन्द ॥२॥

जय जय श्री-कृष्ण-चैतन्य नित्यानन्द ।
जयाद्वैत-चन्द्र जय गौर-भक्त-वृन्द ॥ २॥

जय जय—जय हो; **श्री-कृष्ण-चैतन्य नित्यानन्द**—श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु तथा नित्यानन्द प्रभु की; **जय**—जय हो; **अद्वैत-चन्द्र**—अद्वैत प्रभु की; **जय**—जय हो; **गौर-भक्त-वृन्द**—श्री चैतन्य महाप्रभु के सभी भक्तों की।

अनुवाद

श्री चैतन्य महाप्रभु की जय हो! नित्यानन्द प्रभु की जय हो! अद्वैतचन्द्र की जय हो! श्री चैतन्य महाप्रभु के समस्त भक्तों की जय हो!

एइत कहिलुँ सम्बन्ध-तत्त्वेर विचार ।
वेद-शास्त्रे उपदेशे, कृष्ण——एक सार ॥३॥

एइत कहिलुँ सम्बन्ध-तत्त्वेर विचार ।
वेद-शास्त्रे उपदेशे, कृष्ण——एक सार ॥ ३॥

एइत—इस प्रकार; **कहिलुँ**—मैंने बताया है; **सम्बन्ध-तत्त्वेर विचार**—कृष्ण से अपने सम्बन्ध का विचार; **वेद-शास्त्रे**—सभी वैदिक शास्त्र; **उपदेशे**—उपदेश देते हैं; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण; **एक सार**—एकमात्र आवश्यक वस्तु हैं।

अनुवाद

श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा, "मैंने अनेक प्रकार से कृष्ण के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का वर्णन किया है। यही समस्त वेदों का विषय है। कृष्ण सारे कार्यकलापों के केन्द्र हैं।

एबे कहि, शुन, अभिधेय-लक्षण ।
याहा हैते पाइ——कृष्ण, कृष्ण-प्रेम-धन ॥४॥

एबे कहि, शुन, अभिधेय-लक्षण ।
याहा हैते पाइ——कृष्ण, कृष्ण-प्रेम-धन ॥ ४॥

एबे—अब; **कहि**—मैं बताऊँगा; **शुन**—सुनो; **अभिधेय-लक्षण**—मुख्य कर्तव्य

(भगवत्सेवा); **याहा हैते**—जिसके द्वारा; **पाइ**—प्राप्त किये जा सकते हैं; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण; **कृष्ण-प्रेम-धन**—तथा कृष्ण-प्रेम की दिव्य सम्पत्ति।

अनुवाद

"अब मैं भक्ति के लक्षणों के विषय में कहूँगा, जिसके द्वारा मनुष्य कृष्ण का आश्रय तथा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा को प्राप्त कर सकता है।

कृष्ण-भक्ति——अभिधेय, सर्व-शास्त्रे कय ।
अतएव मुनि-गण करियाछे निश्चय ॥५॥

कृष्ण-भक्ति——अभिधेय, सर्व-शास्त्रे कय ।
अतएव मुनि-गण करियाछे निश्चय ॥५॥

कृष्ण-भक्ति—भगवान् कृष्ण की प्रेममयी सेवा; **अभिधेय**—जीवन का वास्तविक कार्य; **सर्व-शास्त्रे**—सभी वैदिक शास्त्र; **कय**—कहते हैं; **अतएव**—इसलिए; **मुनि-गण**—सभी साधुजनों ने; **करियाछे**—निकाला है; **निश्चय**—निष्कर्ष।

अनुवाद

"मनुष्य के सारे कार्यकलाप केवल भगवान् कृष्ण की भक्ति पर केन्द्रित होने चाहिए। यही सारे शास्त्रों का निर्णय है और सारे सन्त पुरुषों ने यही निष्कर्ष निकाला है।

श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधन-विधिं
यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी ।
पुराणाद्या ये वा सहज-निवहास्ते तदनुगा
अतः सत्यं ज्ञातं मुर-हर भवानेव शरणम् ॥६॥

श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधन-विधिं
यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी ।
पुराणाद्या ये वा सहज-निवहास्ते तदनुगा
अतः सत्यं ज्ञातं मुर-हर भवानेव शरणम् ॥६॥

श्रुतिः—वैदिक ज्ञान; **माता**—सन्तान के प्रति स्नेहशील माता के समान; **पृष्टा**—जिज्ञासा करने पर; **दिशति**—वह निर्देशित करती है; **भवत्**—आपकी; **आराधन**—पूजा; **विधिम्**—

विधि; **यथा**—जिस प्रकार; **मातुः वाणी**—माता के उपदेश; **स्मृतिः**—स्मृति शास्त्र, जो वैदिक शास्त्रों की व्याख्या करते हैं; **अपि**—भी; **तथा**—इसी प्रकार; **वक्ति**—व्यक्त करते हैं; **भगिनी**—एक बहन के समान; **पुराण-आद्याः**—पुराण आदि; **ये**—जो; **वा**—अथवा; **सहज-निवहाः**—भाइयों के समान; **ते**—वे सभी; **तत्**—माता के; **अनुगाः**—आज्ञाकारी; **अतः**—इसलिए; **सत्यम्**—सच; **ज्ञातम्**—ज्ञात; **मुर-हर**—हे मुर असुर के वधकर्ता; **भवान्**—आप; **एव**—एकमात्र; **शरणम्**—आश्रय हैं।

अनुवाद

"'जब वेदमाता (श्रुति) से प्रश्न किया गया कि किसकी पूजा की जाए, तो उसने कहा कि आप ही एकमात्र आराध्य प्रभु हैं। इसी तरह श्रुति शास्त्रों के उपसिद्धान्त स्मृतिशास्त्र भी बहिन-तुल्य वही आदेश देते हैं। भ्रातृतुल्य पुराण अपनी माता के पदचिह्नों पर चलते हैं। हे मुर असुर के शत्रु, निष्कर्ष यह है कि आप ही एकमात्र आश्रय हैं। मैंने इसे तत्त्वतः समझ लिया है।'

तात्पर्य

वैदिक साहित्य का यह उद्धरण मुनियों का भगवान् के प्रति कथन है।

অদ্বয়-জ্ঞান-তত্ত্ব কৃষ্ণ——স্বয়ং ভগবান্ ।
'স্বরূপ-শক্তি' রূপে তাঁর হয় অবস্থান ॥৭॥

অদ্বয়-জ্ঞান-তত্ত্ব কৃষ্ণ——স্বয়ং ভগবান্ ।
'স্বরূপ-শক্তি' রূপে তাঁর হয় অবস্থান ॥৭॥

अद्वय-ज्ञान—अद्वैत ज्ञान का; **तत्त्व**—सिद्धान्त; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण; **स्वयम् भगवान्**—स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; **स्वरूप**—अपने विस्तार की; **शक्ति**—शक्ति के; **रूपे**—रूप में; **ताँर**—उनकी; **हय**—है; **अवस्थान**—उपस्थिति।

अनुवाद

"कृष्ण अद्वय परम सत्य, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। यद्यपि वे एक हैं, किन्तु अपनी लीलाओं के लिए उनके विभिन्न स्वांश तथा शक्तियाँ हैं।

तात्पर्य

भगवान् की अनेक शक्तियाँ हैं और वे इन शक्तियों से अभिन्न हैं। चूँकि शक्तियाँ तथा शक्तिमान अलग नहीं हो सकते, अतः वे अभिन्न हैं। कृष्ण को

समस्त शक्तियों का उद्गम कहा जाता है और उनकी पहचान बहिरंगा शक्ति अर्थात् भौतिक शक्ति से भी की जाती है। कृष्ण की अन्तरंगा या आध्यात्मिक शक्तियाँ भी हैं, जो उनकी सेवा में सदैव लगी रहती हैं। उनकी अन्तरंगा शक्ति बहिरंगा शक्ति से भिन्न है। कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति तथा कृष्ण, जो कि शक्तिमान हैं, सदैव अभिन्न हैं।

स्वांश-विभिन्नांश-रूपे हञा विस्तार ।
अनन्त वैकुण्ठ-ब्रह्माण्डे करेन विहार ॥८॥

स्वांश-विभिन्नांश-रूपे हञा विस्तार ।
अनन्त वैकुण्ठ-ब्रह्माण्डे करेन विहार ॥८॥

स्व-अंश—अपने निजी विस्तार; **विभिन्न-अंश**—पृथक् विस्तार; **रूपे**—रूप में; **हञा**—होकर; **विस्तार**—विस्तारित; **अनन्त**—असंख्य; **वैकुण्ठ**—वैकुण्ठ नामक आध्यात्मिक लोकों में; **ब्रह्माण्डे**—भौतिक ब्रह्माण्डों में; **करेन विहार**—अपनी लीलाएँ करते हैं।

अनुवाद

"कृष्ण अपना विस्तार अनेक रूपों में करते हैं। इनमें से कुछ स्वांश हैं और कुछ विभिन्नांश हैं। इस तरह वे आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों जगतों में लीलाएँ करते हैं। आध्यात्मिक जगत् तो वैकुण्ठ लोक हैं और भौतिक जगत् विशाल ब्रह्माण्ड समूह हैं, जिनकी अध्यक्षता ब्रह्मा करते हैं।

स्वांश-विस्तार——चतुर्व्यूह, अवतार-गण ।
विभिन्नांश जीव——ताँर शक्तिते गणन ॥९॥

स्वांश-विस्तार——चतुर्व्यूह, अवतार-गण ।
विभिन्नांश जीव——ताँर शक्तिते गणन ॥९॥

स्व-अंश-विस्तार—उनके स्वरूप के निजी अंश रूप; **चतुर्-व्यूह**—उनके चार विस्तार; **अवतार-गण**—अवतार; **विभिन्न-अंश**—उनके पृथक् अंश रूप; **जीव**—जीवात्मा; **ताँर**—उनकी; **शक्तिते**—शक्ति की श्रेणी में; **गणन**—गिनती।

अनुवाद

"उनके स्वांश विस्तार वैकुण्ठ लोक से इस भौतिक जगत् में

अवतरित होते हैं—यथा चतुर्व्यूह, जिसमें संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा वासुदेव आते हैं। सारे जीव विभिन्नांश हैं। यद्यपि वे कृष्ण के अंश हैं, किन्तु उनकी गणना उनकी भिन्न शक्तियों में की जाती है।

तात्पर्य

स्वांश विस्तारों को *विष्णु-तत्त्व* कहा जाता है और विभिन्नांशों को *जीव तत्त्व*। यद्यपि सारे जीव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अंश हैं, फिर भी उनकी गिनती भगवान् की नाना शक्तियों में की जाती है। इसका पूरा वर्णन भगवान् कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* (७.५) में किया गया है :

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"इस निकृष्ट अपरा प्रकृति के अतिरिक्त, हे महाबाहु अर्जुन, मेरी एक उत्कृष्ट परा प्रकृति भी है, जो उन जीवों से बनी है, जो इस निकृष्ट भौतिक प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं।"

यद्यपि सारे जीव कृष्ण के अंश हैं, किन्तु वे *प्रकृति* हैं, *पुरुष* नहीं। कभी-कभी प्रकृति (जीव) पुरुष के कार्यों का अनुकरण करना चाहती है। अल्पज्ञान के कारण इस भौतिक जगत् के बद्धजीव अपने आपको ईश्वर बतलाते हैं। वे इस तरह मोहग्रस्त होते हैं। जीव किसी भी अवस्था में *विष्णु तत्त्व* या भगवान् नहीं बन सकता। अतएव अपने आपको ईश्वर बतलाना जीव के लिए हास्यास्पद है। उन्नत अध्यात्मवादी ऐसी बात कभी स्वीकार नहीं करेंगे। ऐसे दावे तो सामान्य तथा मूर्ख लोगों को ठगने के लिए किये जाते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन ऐसे छद्म अवतारों के प्रति युद्ध की घोषणा करता है। अपने आपको ईश्वर बतलाने वाले लोगों द्वारा किये जा रहे ऐसे झूठे प्रचार ने सारे विश्व में कृष्णभावनामृत की हत्या कर दी है। अत: कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को इन धूर्तों तथा पाखण्डियों को ललकारने के लिए अत्यन्त सावधान रहना चाहिए, जो इस समय सारे संसार को दिग्भ्रमित कर रहे हैं। ऐसा ही एक पाखण्डी, जिसका नाम पौण्ड्रक था, भगवान् कृष्ण के समक्ष आया, जिसका वध भगवान् ने तुरन्त कर दिया। निस्सन्देह, कृष्ण के सेवक ऐसे छद्म ईश्वरों

का वध नहीं कर सकते, किन्तु उन्हें परम्परा द्वारा प्राप्त शास्त्र के प्रमाण द्वारा ऐसे पाखंडियों को परास्त करने की भरसक चेष्टा करनी चाहिए।

सेइ विभिन्नांश जीव—दुइ त' प्रकार ।
एक—'नित्य-मुक्त', एक—'नित्य-संसार' ॥ १० ॥

सेइ विभिन्नांश जीव—दुइ त' प्रकार ।
एक—'नित्य-मुक्त', एक—'नित्य-संसार' ॥ १० ॥

सेइ विभिन्न-अंश—कृष्ण का वह विभिन्न अंश; **जीव**—जीवात्मा; **दुइ त' प्रकार**—दो प्रकार का हैं; **एक**—एक; **नित्य-मुक्त**—नित्य रूप से मुक्त; **एक**—एक; **नित्य-संसार**—अनादिकाल से बद्ध।

अनुवाद

"जीवों की दो कोटियाँ हैं। कुछ नित्यमुक्त हैं और कुछ नित्यबद्ध हैं।

'नित्य-मुक्त'—नित्य कृष्ण-चरणे उन्मुख ।
'कृष्ण-पारिषद' नाम, भुञ्जे सेवा-सुख ॥ ११ ॥

'नित्य-मुक्त'—नित्य कृष्ण-चरणे उन्मुख ।
'कृष्ण-पारिषद' नाम, भुञ्जे सेवा-सुख ॥ ११ ॥

नित्य-मुक्त—नित्य मुक्त; **नित्य**—सदैव; **कृष्ण-चरणे**—कृष्ण के चरणकमलों में; **उन्मुख**—जुड़ा हुआ; **कृष्ण-पारिषद**—भगवान् कृष्ण के पार्षद; **नाम**—नामक; **भुञ्जे**—भोगता है; **सेवा-सुख**—सेवा का आनन्द।

अनुवाद

"जो नित्यमुक्त हैं, वे कृष्णभावनामृत के प्रति सदैव सचेष्ट रहते हैं और वे भगवान् कृष्ण के चरणों की प्रेममयी दिव्य सेवा करते हैं। उन्हें कृष्ण के नित्य संगी मानने चाहिए। वे कृष्ण-सेवा का दिव्य आनन्द लगातार प्राप्त करते रहते हैं।

'नित्य-बद्ध'—कृष्ण हैते नित्य-बहिर्मुख ।
'नित्य-संसार', भुञ्जे नरकादि दुःख ॥ १२ ॥

'नित्य-बद्ध'—कृष्ण हैते नित्य-बहिर्मुख ।
'नित्य-संसार', भुञ्जे नरकादि दुःख ॥ १२ ॥

नित्य-बद्ध—सदैव बद्ध; **कृष्ण हैते**—कृष्ण से; **नित्य**—नित्य रूप से; **बहिर्-मुख**—विमुख; **नित्य-संसार**—भौतिक संसार में अनादिकाल से बद्ध; **भुञ्जे**—भोगता है; **नरक-आदि दुःख**—नारकीय जीवन के कष्ट।

अनुवाद

"नित्यमुक्त भक्तों से भिन्न ऐसे बद्धजीव हैं, जो भगवान् की सेवा से सदैव विमुख रहते हैं। वे इस भौतिक जगत् में निरन्तर बद्ध रहते हैं और उन्हें विभिन्न शरीर धारण करने के कारण नारकीय अवस्था में दुःख भोगना पड़ता है।

সেই দোষে মায়া-পিশাচী দণ্ড করে তারে ।
আধ্যাত্মিকাদি তাপ-ত্রয় তারে জারি' মারে ॥ ১৩ ॥

सेइ दोषे माया-पिशाची दण्ड करे तारे ।
आध्यात्मिकादि ताप-त्रय तारे जारि' मारे ॥ १३ ॥

सेइ दोषे—इस दोष के कारण; **माया-पिशाची**—माया नामक पिशाचिनी; **दण्ड करे**—दण्ड देती है; **तारे**—उसे; **आध्यात्मिक-आदि**—देह तथा मन से सम्बन्धित इत्यादि; **ताप-त्रय**—तीन प्रकार के कष्ट; **तारे**—उसे; **जारि'**—जलाकर; **मारे**—कष्ट देती है।

अनुवाद

"कृष्णभावनामृत का विरोध करने के कारण बद्धजीव को बाह्य शक्ति, मायारूपी पिशाचिनी दण्ड देती है। इस तरह वह तीन प्रकार के कष्ट भोगने के लिए तैयार रहता है—शरीर तथा मन द्वारा दिये गये कष्ट, अन्य जीवों के शत्रुभाव से उत्पन्न कष्ट तथा देवताओं द्वारा उत्पन्न प्राकृतिक उत्पात।

কাম-ক্রোধের দাস হঞা তার লাথি খায় ।
ভ্রমিতে ভ্রমিতে যদি সাধু-বৈদ্য পায় ॥ ১৪ ॥
তাঁর উপদেশ-মন্ত্রে পিশাচী পলায় ।
কৃষ্ণ-ভক্তি পায়, তবে কৃষ্ণ-নিকট যায় ॥ ১৫ ॥

काम-क्रोधेर दास हञा तार लाथि खाय ।
भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-वैद्य पाय ॥ १४॥
ताँर उपदेश-मन्त्रे पिशाची पलाय ।
कृष्ण-भक्ति पाय, तबे कृष्ण-निकट याय ॥ १५॥

काम—कामवासनाओं का; **क्रोधेर**—तथा क्रोध का; **दास**—सेवक; **हञा**—बनकर; **तार**—उनकी; **लाथि खाय**—लात खाता है; **भ्रमिते भ्रमिते**—घूमते-घूमते; **यदि**—यदि; **साधु**—एक भक्त; **वैद्य**—चिकित्सक; **पाय**—वह प्राप्त करता है; **ताँर**—उसके; **उपदेश-मन्त्रे**—उपदेशों तथा मन्त्रों द्वारा; **पिशाची**—पिशाचिनी (बहिरंगा शक्ति); **पलाय**—भाग जाती है; **कृष्ण-भक्ति**—कृष्ण की प्रेममयी सेवा; **पाय**—प्राप्त करता है; **तबे**—इस प्रकार; **कृष्ण-निकट याय**—वह कृष्ण के पास जाता है।

अनुवाद

"इस तरह बद्धजीव कामवासनाओं का दास बन जाता है और जब वे वासनाएँ पूरी नहीं होतीं तो वह क्रोध का दास बन जाता है और माया की लात खाता रहता है। वह इस ब्रह्माण्ड में घूमते-घूमते दैववश यदि किसी भक्तवैद्य की संगति पा लेता है, तो उसके निर्देशों तथा मन्त्रों से मायारूपी डायन भाग जाती है। इस तरह बद्धजीव भगवान् कृष्ण की भक्ति के सम्पर्क में आता है, जिससे वह भगवान् के और निकट पहुँच सकता है।

तात्पर्य

८ से १५ संख्या तक के श्लोकों की व्याख्या श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अपने *अमृत-प्रवाह-भाष्य* में की है। भगवान् अपने चतुर्व्यूह विस्तारों तथा अवतारों द्वारा पूरी सृष्टि में व्याप्त हैं। प्रत्येक स्वांश विस्तार द्वारा कृष्ण का सम्यक् प्रतिनिधित्व होता है, किन्तु सारे जीव विभिन्नांश होते हुए भी भगवान् की ही शक्ति माने जाते हैं। जीव की दो कोटियाँ हैं—नित्यमुक्त तथा नित्यबद्ध। जो नित्यमुक्त हैं, वे बहिरंगा शक्ति माया के सम्पर्क में कभी नहीं आते। किन्तु नित्य बद्धजीव सदैव माया के चंगुल में रहते हैं। *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् कृष्ण द्वारा कहा गया है कि :

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

"भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों वाली मेरी इस दैवी शक्ति को जीत पाना कठिन है।"

नित्यबद्ध सदैव माया द्वारा बद्ध रहते हैं और *नित्यमुक्त* कभी भी माया के सम्पर्क में नहीं आते। कभी-कभी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का नित्यमुक्त पार्षद भगवान् की ही तरह इस ब्रह्माण्ड में आता है। भगवान् का सन्देशवाहक (दूत) बद्धजीवों की मुक्ति के लिए कार्य तो करता है, किन्तु माया उसका स्पर्श नहीं कर पाती। सामान्यतया नित्यमुक्त पुरुष भगवान् कृष्ण के संगियों के रूप में वैकुण्ठ में रहते हैं और वे *कृष्ण-पारिषद* अर्थात् भगवान् के साथी कहलाते हैं। उनका एकमात्र कार्य होता है भगवान् कृष्ण की संगति का आनन्द उठाना और यद्यपि ऐसे नित्यमुक्त पुरुष भौतिक जगत् में भगवान् का कार्य पूरा करने आते हैं, किन्तु वे बिना अवरोध के कृष्ण की संगति का आनन्द उठाते रहते हैं। नित्यमुक्त पुरुष, जो कृष्ण की ओर से कार्य करता है, अपने कार्य के माध्यम से भगवान् कृष्ण के सान्निध्य का उपभोग करता है। नित्य बद्धजीव भौतिक जगत् का भोग करने की कामवासनाओं से उत्तेजित होकर एक शरीर से दूसरे में बलात् विचरण करता रहता है। कभी वह उच्चतर ग्रह-मण्डलों को प्राप्त करता है, तो कभी नरक जाता है और बहिरंगा शक्ति के कष्टों को भोगता है।

माया द्वारा बद्ध होने के कारण बद्धजीव को इस भौतिक जगत् में दो प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं—स्थूल भौतिक शरीर तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार से निर्मित सूक्ष्म भौतिक शरीर। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कारण उसे तीन प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं—(*आध्यात्मिक, आधिभौतिक* तथा *आधिदैविक*) मन तथा शरीर से उत्पन्न कष्ट, अन्य प्राणियों से प्राप्त कष्ट, उच्चलोक के देवताओं द्वारा दिये जाने वाले प्राकृतिक उत्पात से प्राप्त कष्ट। तीन प्रकार के भौतिक कष्टों को भोगने वाला बद्धजीव अहर्निश माया की लातें खाता है और यही उसका रोग है। यदि संयोगवश उसे कृष्ण की ओर से बद्धजीवों का उद्धार करने वाला कोई सन्त पुरुष मिल जाता है और यदि वह उसके आदेश के अनुसार चलता है, तो वह धीरे-धीरे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के पास पहुँच सकता है।

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशास्
तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः ।
उत्सृज्यैतानथ यदु-पते साम्प्रतं लब्ध-बुद्धिस्
त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्म-दास्ये ॥ १६ ॥

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशास्
तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः ।
उत्सृज्यैतानथ यदु-पते साम्प्रतं लब्ध-बुद्धिस्
त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्म-दास्ये ॥ १६ ॥

काम-आदीनाम्—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य जैसे अपने स्वामियों का; **कति**—कितने; **न**—नहीं; **कतिधा**—कितने प्रकार से; **पालिताः**—आज्ञा पालन किया; **दुः-निदेशाः**—बुरे आदेशों का; **तेषाम्**—उनकी; **जाता**—उत्पन्न हुई; **मयि**—मेरे प्रति; **न**—नहीं; **करुणा**—दया; **न**—न; **त्रपा**—शर्म; **न**—नहीं; **उपशान्तिः**—त्यागने की इच्छा; **उत्सृज्य**—त्यागकर; **एतान्**—इन सबको; **अथ**—अतः; **यदु-पते**—हे यदुकुल शिरोमणि; **साम्प्रतम्**—अब; **लब्ध-बुद्धिः**—जागृत बुद्धि प्राप्त कर; **त्वाम्**—आपको; **आयातः**—आकर; **शरणम्**—जो आश्रय हैं; **अभयम्**—भय से मुक्त; **माम्**—मुझे; **नियुङ्क्ष्व**—कृपया लगाएँ; **आत्म-दास्ये**—अपनी सेवा में।

अनुवाद

'"हे प्रभु, कामवासनाओं के अवांछित आदेशों की कोई सीमा नहीं है। यद्यपि मैंने इन इच्छाओं की इतनी सेवा की है, किन्तु उन्होंने मुझ पर रंच-भर भी दया नहीं दिखलाई। उनकी सेवा करने में न तो मुझे लज्जा आई, न ही मैंने कभी उन्हें त्यागने की इच्छा की। किन्तु हे प्रभु, हे यदुवंश के शिरोमणि, हाल ही में मेरी बुद्धि जाग्रत हुई है और अब मैं उनका परित्याग कर रहा हूँ। अपनी दिव्य बुद्धि के कारण मैं अब इन अवांछित इच्छाओं का पालन करने से मना करता हूँ और अब आपके अभय चरणकमलों में शरण लेने के लिए आया हूँ। कृपया मुझे अपनी निजी सेवा में लगा लीजिये और मेरी रक्षा कीजिये।'

तात्पर्य

यह श्लोक *भक्तिरसामृतसिन्धु* (३.२.३५) में भी आया है। जब हम हरे कृष्ण महामन्त्र का जप करते हैं, तब हम यह कह रहे हैं, "हरे! अर्थात् हे

भगवान् की शक्ति, हे कृष्ण!" इस तरह हम भगवान् को तथा उनकी आध्यात्मिक शक्ति को राधा-कृष्ण, सीता-राम या लक्ष्मी-नारायण के रूप में सम्बोधित करते हैं। भक्त सदैव भगवान् तथा उनकी अन्तरंगा शक्ति (प्रेयसी) से प्रार्थना करता है, जिससे वह उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लग सके। जब बद्धजीव अपनी वास्तविक आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर लेता है और भगवान् के चरणकमलों में अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर देता है, तब वह भगवान् की सेवा में लगना चाहता है। यही जीव की वास्तविक वैधानिक स्थिति है।

कृष्ण-भक्ति हय अभिधेय-प्रधान ।
भक्ति-मुख-निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान ॥ १७॥

कृष्ण-भक्ति हय अभिधेय-प्रधान ।
भक्ति-मुख-निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान ॥ १७॥

कृष्ण-भक्ति—भगवान् कृष्ण की प्रेमभक्ति; **हय**—है; **अभिधेय-प्रधान**—जीवात्मा का मुख्य कार्य; **भक्ति-मुख**—भक्ति का मुख; **निरीक्षक**—निरीक्षण करने वाले; **कर्म-योग-ज्ञान**—सकाम कर्म, योग तथा तार्किक ज्ञान।

अनुवाद

"कृष्ण की भक्ति ही जीव का मुख्य कार्य है। यद्यपि बद्धजीव की मुक्ति के विविध साधन हैं, यथा कर्म, ज्ञान, योग तथा भक्ति, किन्तु ये सब भक्ति पर आश्रित हैं।

एइ सब साधनेर अति तुच्छ बल ।
कृष्ण-भक्ति विना ताहा दिते नारे फल ॥ १८॥

एइ सब साधनेर अति तुच्छ बल ।
कृष्ण-भक्ति विना ताहा दिते नारे फल ॥ १८॥

एइ सब—इन सभी; **साधनेर**—आध्यात्मिक कार्यकलापों की; **अति**—अत्यन्त; **तुच्छ**—तुच्छ; **बल**—शक्ति; **कृष्ण-भक्ति**—भगवान् कृष्ण की प्रेममयी सेवा; **विना**—बिना; **ताहा**—ये सब; **दिते**—देने में; **नारे**—समर्थ नहीं हैं; **फल**—वांछित परिणाम।

अनुवाद

"भक्ति के बिना आत्म-साक्षात्कार के अन्य सारे साधन दुर्बल तथा

तुच्छ हैं। कृष्ण की भक्ति किये बिना, ज्ञान तथा योग से वांछित फल प्राप्त नहीं हो सकता।

तात्पर्य

शास्त्रों में कभी-कभी सकाम कर्म, तार्किक ज्ञान तथा योग पर बल दिया जाता है। यद्यपि लोग इन विधियों का अभ्यास करने की प्रवृत्ति रखते हैं, किन्तु कृष्ण-भक्ति का स्पर्श पाये बिना उन्हें वांछित फल प्राप्त नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, वास्तविक वांछित फल तो कृष्ण के प्रति सुप्त प्रेम को जगाना है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) में कहा गया है :

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

"मानव धर्म वह है, जिससे दिव्य भगवान् की प्रेमाभक्ति मिल सके। ऐसी प्रेमाभक्ति निस्वार्थ और रुकावट रहित होनी चाहिए, जिससे आत्मा की पूर्ण तुष्टि हो सके।" वस्तुतः कर्म, ज्ञान तथा योग भगवत्प्रेम को जाग्रत नहीं कर सकते। इसके लिए भगवद्भक्ति स्वीकार करनी होगी और जो जितना ही भक्ति के प्रति उन्मुख होता है, वह अन्य तथाकथित उपलब्धियों के प्रति उतना ही उदासीन होता जाता है। ध्रुव महाराज ने भगवान् का साक्षात्कार करने के उद्देश्य से योगाभ्यास किया, किन्तु जब उन्हें भक्ति में रुचि उत्पन्न हो गई, तो उन्होंने देखा कि कर्म, ज्ञान तथा योग से उन्हें कोई लाभ नहीं हो रहा है।

নৈষ্কর্ম্যমপ্যচ্যুত-ভাব-বর্জিতং
ন শোভতে জ্ঞানমলং নিরঞ্জনম্ ।
কুতঃ পুনঃ শশ্বদভদ্রমীশ্বরে
ন চার্পিতং কর্ম যদপ্যকারণম্ ॥১৯॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युत-भाव-वर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥ १९॥

नैष्कर्म्यम्—जो कर्म का भोग उत्पन्न नहीं करते; **अपि**—तथापि; **अच्युत-भाव**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अच्युत की प्रेममयी सेवा से; **वर्जितम्**—रहित; **न**—नहीं; **शोभते**—शोभा

देते हैं; **ज्ञानम्**—मनोकल्पित ज्ञान; **अलम्**—पर्याप्त; **निरञ्जनम्**—जो भौतिक कल्मष से रहित है; **कुतः**—कितना कम; **पुनः**—दोबारा; **शश्वत्**—सदैव (अभ्यास करते समय तथा लक्ष्य प्राप्ति के समय); **अभद्रम्**—अशुभ है; **ईश्वरे**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति; **न**—नहीं; **च**—तथा; **अर्पितम्**—अर्पित; **कर्म**—कार्य; **यत्**—जो; **अपि**—यद्यपि; **अकारणम्**—कामना से रहित हों।

अनुवाद

"'जब शुद्ध ज्ञान समस्त भौतिक आकर्षण से परे होता है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (कृष्ण) को समर्पित नहीं होता, तो यह भौतिक मल से रहित होते हुए भी अधिक सुन्दर नहीं लगता। तो फिर सकाम कर्मों का क्या लाभ, जो प्रारम्भ से कष्टप्रद और क्षणिक हैं, यदि वे भगवान् की भक्तिमयी सेवा में काम नहीं आते? भला वे किस तरह अत्यन्त आकर्षक हो सकते हैं?'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (१.५.१२) का है। अनेक वैदिक ग्रन्थों की रचना करने के बाद भी व्यासदेव अत्यन्त खिन्न थे। अतएव उनके गुरु नारद देव ने उनसे कहा कि वे तभी सुखी हो सकते हैं, यदि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यकलापों के विषय में लिखें। तब तक श्रील व्यासदेव ने वेदों के कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड अनुभागों की ही रचना की थी; उन्होंने उपासना-काण्ड या भक्ति के विषय में नहीं लिखा था। इस तरह उनके गुरु नारद ने उनकी गलती को सुधारा और उन्हें उपदेश दिया कि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कार्यकलापों के विषय में लिखें। इसलिए व्यासदेव ने *श्रीमद्भागवत* लिखना प्रारम्भ किया।

तपस्विनो दान-परा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्र-विदः सु-मङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥२०॥

तपस्विनो दान-परा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्र-विदः सु-मङ्गलाः ।

क्षेमं न विन्दन्ति विना ग्रदर्पणं
तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ २० ॥

तपस्विनः—कठोर तपस्याओं में लगे हुए; **दान-पराः**—अपनी सम्पत्तियों को दान में देने वाले; **ग्रशस्विनः**—समाज में विख्यात; **मनस्विनः**—तर्कवितर्क या ध्यान में प्रवीण; **मन्त्र-विदः**—वैदिक मन्त्रोच्चारण में दक्ष; **सु-मङ्गलाः**—अत्यन्त शुभ; **क्षेमम्**—वास्तविक, नित्य कल्याणकारी; **न**—कभी नहीं; **विन्दन्ति**—प्राप्त करते हैं; **विना**—बिना; **ग्रत्-अर्पणम्**—जिन्हें अर्पित करके (पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्); **तस्मै**—उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को; **सु-भद्र श्रवसे**—जिनकी कीर्ति अत्यन्त शुभ है; **नमः नमः**—मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

अनुवाद

"'जो लोग कठोर तपस्या करते हैं, जो दान में अपना सर्वस्व दे डालते हैं, जो अपने पुण्यकर्म के लिए प्रसिद्ध हैं, जो ध्यान तथा ज्ञान में लगे हैं और जो वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करने में अत्यन्त पटु हैं, वे यदि अपने कर्मों को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा में समर्पित नहीं करते, तो वे कोई शुभ फल नहीं प्राप्त कर पाते, भले ही वे पुण्यकर्मों में क्यों न लगे हों। अतएव मैं उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को बारम्बार सादर नमस्कार करता हूँ, जिनकी महिमा सदैव कल्याणप्रद है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण भी *श्रीमद्भागवत* (२.४.१७) से है।

केवल ज्ञान 'मुक्ति' दिते नारे भक्ति विने ।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय विना ज्ञाने ॥ २१ ॥
केवल ज्ञान 'मुक्ति' दिते नारे भक्ति विने ।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय विना ज्ञाने ॥ २१ ॥

केवल—केवल; **ज्ञान**—तार्किक ज्ञान; **मुक्ति**—मुक्ति; **दिते**—प्रदान करने में; **नारे**—समर्थ नहीं है; **भक्ति विने**—प्रेममयी सेवा के बिना; **कृष्ण-उन्मुखे**—यदि कोई भगवान् कृष्ण की सेवा से आसक्त है; **सेइ मुक्ति**—वह मुक्ति; **हय**—प्राप्त होती है; **विना**—बिना; **ज्ञाने**—ज्ञान के।

अनुवाद

"भक्ति के बिना कोरा ज्ञान मुक्ति दिलाने में समर्थ नहीं है। दूसरी

ओर यदि कोई भगवद्भक्ति में लगता है, तो वह ज्ञान के बिना भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य

केवल ज्ञान से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। भले ही कोई ब्रह्म तथा पदार्थ में अन्तर बताने में सक्षम हो जाये, किन्तु यदि कोई भूल से यह सोचे कि जीव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के समकक्ष है, तो उसकी मुक्ति में अवरोध आ जायेगा। चूँकि अपने आपको परम पुरुष या परम सत्य मानना अपराध है, अतः इसके कारण मनुष्य पुनः भौतिक जगत् में आ गिरता है। जब ऐसा व्यक्ति शुद्ध भक्त के सम्पर्क में आता है, तब वह भवबन्धन से वास्तव में मुक्त हो सकता है और भगवान् की सेवा में लग सकता है। बिल्वमंगल ठाकुर की एक प्रार्थना यहाँ प्रासंगिक होगी :

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवान् यदि स्याद्
दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥

"हे प्रभु, यदि कोई संकल्प के साथ आपकी शुद्ध भक्ति में लगता है, तो आप अपने आदि दिव्य किशोर रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के तौर पर दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ तक मुक्ति का सवाल है, वह तो भक्त के समक्ष उसकी सेवा करने के लिए हाथ जोड़े खड़ी रहती है। धर्म, अर्थ तथा इन्द्रियतृप्ति बिना अलग प्रयास के स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।" (*कृष्णकर्णामृत* १०७)

श्रेयः-सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूल-तुषावघातिनाम् ॥२२॥

श्रेयः-सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूल-तुषावघातिनाम् ॥ २२॥

श्रेयः-सृतिम्—मुक्ति का शुभ मार्ग; **भक्तिम्**—प्रेमभक्ति को; **उदस्य**—त्यागकर; **ते**—आपकी; **विभो**—हे मेरे प्रभु; **क्लिश्यन्ति**—क्लेश प्राप्त करते हैं; **ये**—जो लोग; **केवल**—केवल; **बोध-लब्धये**—ज्ञान प्राप्त करने के लिए; **तेषाम्**—उनके लिए; **असौ**—वह; **क्लेशलः**—कष्ट; **एव**—केवल; **शिष्यते**—रहता है; **न**—नहीं; **अन्यत्**—कुछ और; **यथा**—जिस प्रकार; **स्थूल**—खाली; **तुष**—चावल की भूसी को; **अवघातिनाम्**—कूटने वालों के।

अनुवाद

"'हे प्रभु, आपकी भक्ति एकमात्र शुभ मार्ग है। यदि कोई केवल ज्ञान के लिए या यह समझकर कि ये सारे जीव आत्माएँ हैं और यह जगत् मिथ्या है, इसका परित्याग कर देता है, तो उसे बहुत कष्ट भोगना पड़ता है। मात्र कष्टप्रद तथा अशुभ कर्म ही उसके हाथ लगते हैं। उसका प्रयास चावल से रहित भूसी को पीटने जैसा है। उसका प्रयास निष्फल हो जाता है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.४) से है।

दैवी ह्येषा गुण-मयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥२३॥
दैवी ह्येषा गुण-मयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ २३ ॥

दैवी—भगवान् से सम्बन्धित; **हि**—निश्चित रूप से; **एषा**—यह; **गुण-मयी**—तीनों गुणों से बनी हुई; **मम**—मेरी; **माया**—बहिरंगा शक्ति; **दुरत्यया**—पार करने में अत्यन्त कठिन; **माम्**—मेरी; **एव**—अवश्य; **ये**—जो; **प्रपद्यन्ते**—पूर्ण शरण ले लेते हैं; **मायाम्**—माया को; **एताम्**—इस; **तरन्ति**—पार कर लेते हैं; **ते**—वे।

अनुवाद

"'भौतिक प्रकृति के तीन गुणों वाली मेरी इस दैवी शक्ति का अतिक्रमण कर पाना कठिन है। किन्तु जो मेरी शरण में आ चुके हैं, वे इसे आसानी से पार कर सकते हैं।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *भगवद्गीता* (७.१४) का है।

'कृष्ण-नित्य-दास'—जीव ताहा भुलि' गेल ।
एइ दोषे माया तार गलाय बान्धिल ॥२४॥

'कृष्ण-नित्य-दास'—जीव ताहा भुलि' गेल ।
एइ दोषे माया तार गलाय बान्धिल ॥ २४॥

कृष्ण-नित्य-दास—कृष्ण का सनातन सेवक; **जीव**—जीवात्मा; **ताहा**—वह; **भुलि'**—भूल; **गेल**—गया; **एइ दोषे**—इस दोष के कारण; **माया**—भौतिक शक्ति; **तार**—उसके; **गलाय**—गले में; **बान्धिल**—बाँध दिया।

अनुवाद

"जीव माया की जंजीर द्वारा गले से बँधा हुआ है, क्योंकि वह यह भूल गया है कि वह कृष्ण का नित्य दास है।

तातेकृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन ।
माया-जाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण ॥२५॥

तातेकृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन ।
माया-जाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण ॥ २५॥

तातेकृष्ण भजे—इसलिए; **कृष्ण भजे**—यदि कोई भगवान् कृष्ण की आराधना करता है; **करे**—करता है; **गुरुर सेवन**—अपने आध्यात्मिक गुरु की सेवा; **माया-जाल छुटे**—माया के जाल से मुक्त हो जाता है; **पाय**—प्राप्त करता है; **कृष्णेर चरण**—कृष्ण के चरणकमलों की शरण।

अनुवाद

"यदि बद्धजीव भगवान् की सेवा में लगता है और साथ ही अपने गुरु की आज्ञा का पालन करता है और उनकी सेवा करता है, तो वह माया के जाल से छूट सकता है और कृष्ण के चरणकमलों में शरण पाने के योग्य हो सकता है।

तात्पर्य

यह सच है कि प्रत्येक जीव कृष्ण का सनातन सेवक है। किन्तु माया के प्रभाव से यह बात भुला दी जाती है, जिससे मनुष्य भौतिक सुख में विश्वास करने के लिए प्रेरित होता है। माया से भ्रमित होकर मनुष्य सोचता है कि भौतिक सुख ही एकमात्र वांछित लक्ष्य है। यह भौतिक चेतना बद्धजीव के गले के चारों ओर पड़ी जंजीर के समान है। जब तक वह इस विचार से बँधा रहता

है, तब तक वह माया के पाश से छूट नहीं सकता। किन्तु यदि कृष्ण की दया से वह प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आ जाता है, उनके आदेश का पालन करता है तथा उसकी सेवा करता है, अन्य बद्धजीवों को भगवान् की सेवा में लगाता है, तो वह मुक्त हो जाता है एवं श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त करता है।

चारि वर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे ।
स्वकर्म करिते से रौरवे पड़ि' मजे ॥२६॥

चारि वर्णाश्रमी ग्रदि कृष्ण नाहि भजे ।
स्वकर्म करिते से रौरवे पड़ि' मजे ॥ २६ ॥

चारि वर्ण-आश्रमी—चार वर्णों तथा आश्रमों के अनुयायी; **ग्रदि**—यदि; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण की; **नाहि**—नहीं; **भजे**—सेवा करते; **स्व-कर्म करिते**—जीवन में अपने कर्म करते हुए; **से**—वह; **रौरवे**—नारकीय अवस्था में; **पड़ि'**—गिरकर; **मजे**—डूब जाता है।

अनुवाद

"वर्णाश्रम संस्था के अनुयायी चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के विधि-विधानों को मानते हैं। यदि वे इन विधानों का पलन करते हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण की भक्तिमयी सेवा नहीं करते, तो वे भौतिक जीवन की नारकीय अवस्था में जा गिरते हैं।

तात्पर्य

भले ही कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो, अथवा वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास धर्म का ठीक से पालन करता हो, किन्तु यदि वह भक्त नहीं बनता, तो वह अन्ततः नरक में जा गिरता है। अपनी सुप्त कृष्ण-चेतना को विकसित किये बिना मनुष्य वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता। सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के लिए वर्णाश्रम धर्म के विधि-विधान अपने आप में अपर्याप्त हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* के अगले दो श्लोकों (११.५.२-३) से होती है।

मुख-बाहूरु-पादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥२७॥

मुख-बाहूरु-पादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २७॥

मुख—मुख; **बाहु**—भुजाएँ; **ऊरु**—कमर; **पादेभ्यः**—चरणों से; **पुरुषस्य**—भगवान् के; **आश्रमैः**—भिन्न भिन्न आध्यात्मिक आश्रम; **सह**—साथ; **चत्वारः**—चार; **जज्ञिरे**—उत्पन्न हुए; **वर्णाः**—समाज के विभाग; **गुणैः**—विशिष्ट गुणों के साथ; **विप्र-आदयः**—ब्राह्मण आदि; **पृथक्**—अलग-अलग।

अनुवाद

"'ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण प्रकट हुए। इसी तरह उनकी बाँहों से क्षत्रिय उत्पन्न हुए, उनकी कमर से वैश्य निकले और उनके पाँवों से शूद्र निकले। ये चारों वर्ण तथा इनके चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) मिलकर मानव समाज को पूर्ण बनाते हैं।

य एषां पुरुषं साक्षादात्म-प्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥२८॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्म-प्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ २८॥

य—जो; **एषाम्**—इन वर्णाश्रम विभागों का; **पुरुषम्**—परम भगवान् का; **साक्षात्**—साक्षात्; **आत्म-प्रभवम्**—सभी के स्रोत को; **ईश्वरम्**—परम नियन्ता को; **न**—नहीं; **भजन्ति**—सेवा करते; **अवजानन्ति**—या जो नहीं जानते; **स्थानात्**—अपनी स्थिति से; **भ्रष्टाः**—भ्रष्ट होकर; **पतन्ति**—गिर जाते हैं; **अधः**—नारकीय स्थानों में।

अनुवाद

"'यदि कोई व्यक्ति चारों वर्णों तथा आश्रमों में अपना औपचारिक स्थान बनाये रखता है, किन्तु भगवान् विष्णु की पूजा नहीं करता, तो वह अपने अहंकारपूर्ण उच्च स्थान से गिर जाता है और नारकीय स्थिति को प्राप्त होता है।'

জ্ঞানী জীবন্মুক্ত-দশা পাইনু করি' মানে ।
বস্তুতঃ বুদ্ধি 'শুদ্ধ' নহে কৃষ্ণ-ভক্তি বিনে ॥২৯॥

ज्ञानी जीवन्मुक्त-दशा पाइनु करि' माने ।
वस्तुतः बुद्धि 'शुद्ध' नहे कृष्ण-भक्ति विने ॥ २९॥

ज्ञानी—तार्किक दार्शनिक; **जीवन्-मुक्त-दशा**—इस शरीर में रहते हुए ही मोक्ष की अवस्था; **पाइनु**—मैंने प्राप्त कर ली है; **करि'**—ऐसा; **माने**—मानता है; **वस्तुतः**—वास्तव में; **बुद्धि**—बुद्धि; **शुद्ध**—निर्मल; **नहे**—नहीं; **कृष्ण-भक्ति विने**—कृष्ण की प्रेमभक्ति के बिना।

अनुवाद

"मायावादी सम्प्रदाय के ऐसे अनेक तर्कवादी ज्ञानी हैं, जो अपने आपको मुक्त मानते हैं और अपने आपको नारायण कहते हैं। किन्तु जब तक वे कृष्ण-भक्ति में नहीं लगते, तब तक उनकी बुद्धि निर्मल नहीं होती।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त-मानिनस्
त्वय्यस्त-भावादविशुद्ध-बुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृत-युष्मदङ्घ्रयः ॥ ३० ॥

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त-मानिनस्
त्वय्यस्त-भावादविशुद्ध-बुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृत-युष्मदङ्घ्रयः ॥ ३० ॥

ये—वे सभी जो; **अन्ये**—दूसरे (अभक्त); **अरविन्द-अक्ष**—हे कमलनयन वाले; **विमुक्त-मानिनः**—जो स्वयं को मुक्त मानते हैं; **त्वयि**—आप में; **अस्त-भावात्**—भक्ति भाव से रहित; **अविशुद्ध-बुद्धयः**—जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है; **आरुह्य**—चढ़कर; **कृच्छ्रेण**—कठोर तपस्याओं द्वारा; **परम् पदम्**—परम अवस्था को; **ततः**—वहाँ से; **पतन्ति**—गिर जाते हैं; **अधः**—नीचे; **अनादृत**—तिरस्कृत करके; **युष्मत्**—आपके; **अङ्घ्रयः**—चरणकमल।

अनुवाद

"'हे कमलनेत्र, जो अपने आपको इस जीवन में मुक्त मानते हैं, किन्तु आपकी भक्ति नहीं करते, वे अवश्य ही अशुद्ध बुद्धि वाले हैं। यद्यपि वे कठिन तपस्या करते हैं और उच्च आध्यात्मिक पद अर्थात् निराकार ब्रह्म-साक्षात्कार का पद प्राप्त करते हैं, किन्तु वे पुनः नीचे गिरते जाते हैं, क्योंकि वे आपके चरणकमलों की पूजा करने की उपेक्षा करते हैं।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) से उद्धृत है।

कृष्ण—सूर्य-सम; माया हय अन्धकार ।
याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार ॥ ३१ ॥

कृष्ण—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण; **सूर्य-सम**—सूर्य लोक के समान; **माया**—माया शक्ति; **हय**—है; **अन्धकार**—अन्धकार; **याहाँ कृष्ण**—जहाँ भी कृष्ण हैं; **ताहाँ**—वहाँ; **नाहि**—नहीं; **मायार**—माया या अज्ञान के अन्धकार का; **अधिकार**—आधिपत्य।

अनुवाद

"कृष्ण सूर्य के समान हैं और माया अन्धकार के समान है। जहाँ कहीं सूर्य-प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं हो सकता। ज्योंही भक्त कृष्णभावनामृत अपनाता है, त्योंही माया का अन्धकार (बहिरंगा शक्ति का प्रभाव) तुरन्त नष्ट हो जाता है।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत (२.९.३४) में कहा गया है :

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः ॥

"जो कुछ मेरे बिना सत्य प्रतीत होता है, वह निश्चय ही मेरी माया है, क्योंकि मेरे बिना कुछ भी विद्यमान नहीं रह सकता। यह तो छाया में वास्तविक प्रकाश के प्रतिबिम्ब के समान है, क्योंकि प्रकाश में न तो छाया है, न ही प्रतिबिम्ब।"

जहाँ कहीं भी प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता। जब जीव कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो उसकी सारी भौतिक कामवासनाएँ तुरन्त जाती रहती हैं। कामवासनाएँ तथा लोभ *रजस्* तथा *तमस्* से सम्बन्धित हैं। कृष्णभावनाभावित होने पर रजो तथा तमोगुण तुरन्त लुप्त हो जाते हैं और *सत्वगुण* बचा रहता है। सत्त्वगुण में स्थित होने पर मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है और सारी बातों को स्पष्ट रूप से समझ सकता है। यह स्थिति हर एक के लिए सम्भव नहीं है। जब व्यक्ति कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो वह निरन्तर कृष्ण के विषय में सुनता है, उन्हीं के बारे में सोचता है, उन्हें ही पूजता है और भक्त के रूप में उनकी सेवा करता है। यदि वह इसी तरह

कृष्णभावनाभावित बना रहता है, तो माया का अन्धकार उसको कभी छू नहीं पाता।

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षा-पथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥ ३२ ॥

विलज्जमानया ग्रस्य स्थातुमीक्षा-पथेऽमुया ।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥ ३२ ॥

विलज्जमानया—लज्जित होकर; **ग्रस्य**—जिससे; **स्थातुम्**—खड़ी रहने में; **ईक्षा-पथे**—नजरों के सामने; **अमुया**—उसके (माया के) द्वारा; **विमोहिताः**—मोहित; **विकत्थन्ते**—शेखी मारते हैं; **मम**—मेरा; **अहम्**—मैं; **इति**—इस प्रकार; **दुर्धियः**—अल्प ज्ञान के कारण।

अनुवाद

"'कृष्ण की बहिरंगा मोहक शक्ति, जो माया कहलाती है, कृष्ण के समक्ष खड़े होने में हमेशा उसी तरह लज्जित होती है, जिस तरह अन्धकार सूर्य-प्रकाश के समक्ष रहने में लज्जित होता है। किन्तु माया उन अभागे व्यक्तियों को मोहग्रस्त कर लेती है, जिनमें बुद्धि नहीं होती। बस वे केवल यही शेखी मारते हैं कि यह भौतिक संसार उनका है और वे इसके भोक्ता हैं।'

तात्पर्य

समूचा संसार मोहग्रस्त है, क्योंकि लोग सोचते हैं कि, "यह मेरा देश है," "अमरीका मेरा है," "भारत मेरा है।" लोग जीवन के वास्तविक महत्त्व को न जानने के कारण सोचते हैं कि उनके भौतिक शरीर तथा जिस देश में वे उत्पन्न हुए हैं, वे ही सर्वोपरि हैं। राष्ट्रवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद के पीछे यही मूल सिद्धान्त है। ऐसी विचारधारा, जो जीवों को केवल मोहग्रस्त करती है, पाखण्डवाद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह माया के अन्धकार के कारण है। किन्तु ज्योंही मनुष्य कृष्णभावनाभावित हो जाता है, वह इस भ्रामक विचार से तुरन्त मुक्त हो जाता है। यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (२.५.१३) से उद्धृत किया गया है। *श्रीमद्भागवत* (२.७.४७) में एक अन्य श्लोक भी उपयुक्त है :

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं
शुद्धं समं सदसतः परमात्म-तत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरु-कारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद् विदुरजस्रसुखं विशोकम्॥

"जिनकी अनुभूति परम ब्रह्म के रूप में होती है, वे शोकरहित असीम आनन्द से पूर्ण हैं। यह निश्चय ही परम भोक्ता भगवान् की चरम अवस्था है। वे समस्त उत्पातों से रहित, निर्भय, पदार्थ से विपरीत पूर्ण चेतन, कल्मषरहित तथा उपाधिरहित हैं। वे समस्त कारणों तथा प्रभावों के प्रमुख आदि कारण हैं। उनमें न तो सकाम कर्मों के लिए कोई यज्ञ है और न उनमें माया ठहर पाती है।"

यह श्लोक ब्रह्माजी ने तब कहा था, जब महर्षि नारद ने उनसे प्रश्न पूछा था। नारद को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ध्यानमग्न हैं, और इससे नारद को सन्देह हुआ कि ब्रह्मा से बढ़कर और कोई भी हो सकता है क्या? नारद को उत्तर देते हुए ब्रह्माजी ने माया तथा मोहग्रस्त जीवों की स्थिति का वर्णन किया। यह श्लोक उसी प्रसंग में कहा गया था।

'कृष्ण, तोमार हञ' यदि बले एक-बार ।
माया-बन्ध हैते कृष्ण तारे करे पार ॥३३॥

'कृष्ण, तोमार हऊ' यदि बले एक-बार ।
माया-बन्ध हैते कृष्ण तारे करे पार ॥ ३३ ॥

कृष्ण—हे मेरे प्रभु कृष्ण; **तोमार हऊ**—मैं आपका हूँ; **यदि**—यदि; **बले**—कोई कहता है; **एक-बार**—एक बार; **माया-बन्ध हैते**—बद्ध जीवन के बन्धन से; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण; **तारे**—उसे; **करे पार**—छुड़ा देते हैं।

अनुवाद

"यदि कोई गम्भीरता तथा निष्ठा के साथ यह कहता है कि, 'हे कृष्ण! यद्यपि इस भौतिक संसार में मैंने आपको इतने वर्षों से भुला दिया था,

किन्तु आज मैं आपकी शरण ग्रहण कर रहा हूँ। मैं आपका निष्ठावान दास हूँ। कृपया मुझे अपनी सेवा में लगा लें,' तो वह तुरन्त माया के पाश से मुक्त हो जाता है।

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ ३४॥

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ ३४॥

सकृत्—केवल एक बार; **एव**—अवश्य; **प्रपन्नः**—शरणागत; **यः**—जो कोई भी; **तव**—आपका; **अस्मि**—मैं हूँ; **इति**—ऐसी; **च**—तथा; **याचते**—प्रार्थना करता है; **अभयम्**—भय से मुक्ति; **सर्वदा**—सदैव; **तस्मै**—उसे; **ददामि**—मैं देता हूँ; **एतत्**—यह; **व्रतम्**—प्रतिज्ञा; **मम**—मेरी।

अनुवाद

"'यह मेरा व्रत है कि यदि कोई यह कहकर एक बार भी मेरे शरणागत होता है कि, "हे प्रभु! आज से मैं आपका हूँ" और अभय के लिए मुझसे प्रार्थना करता है, तो मैं उस व्यक्ति को तुरन्त अभय प्रदान करता हूँ और वह उस समय से सदैव सुरक्षित रहता है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *रामायण* (युद्ध काण्ड १८.३३) का है और भगवान् रामचन्द्र द्वारा कहा गया है।

ভুক্তি-মুক্তি-সিদ্ধি-কামী 'সুবুদ্ধি' যদি হয় ।
গাঢ়-ভক্তি-যোগে তবে কৃষ্ণেরে ভজয় ॥ ৩৫॥

ভুক্তি-মুক্তি-সিদ্ধি-কামী 'সুবুদ্ধি' যদি হয় ।
গাঢ়-ভক্তি-যোগে তবে কৃষ্ণেরে ভজয় ॥ ৩৫॥

ভুক্তি—ভৌতিক ভোগ কা; **মুক্তি**—নিরাকার মোক্ষ কা; **সিদ্ধি**—যোগসিদ্ধি কা; **কামী**—इच्छुक; **সু-বুদ্ধি**—वास्तव में बुद्धिमान; **যদি**—यदि; **হয়**—वह; **গাঢ়**—गहरे; **ভক্তি-যোগে**—भक्तियोग द्वारा; **তবে**—तब; **কৃষ্ণেরে ভজয়**—भगवान् कृष्ण की आराधना करता है।

अनुवाद

"'जीव कुसंगति के कारण भौतिक सुख, मोक्ष अथवा भगवान् के निर्विशेष पहलू से तादात्म्य चाहता है या भौतिक शक्ति के लिए योग-साधना में लग जाता है। यदि ऐसा व्यक्ति वास्तव में बुद्धिमान बन जाता है, तो वह भगवान् श्रीकृष्ण की गहन भक्ति में लगकर कृष्णभावनामृत को अंगीकार करता है।

अकामः सर्व-कामो वा मोक्ष-काम उदार-धीः ।
तीव्रेण भक्ति-योगेन यजेत पूरुषं परम् ॥ ३६॥

अकामः सर्व-कामो वा मोक्ष-काम उदार-धीः ।
तीव्रेण भक्ति-योगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ ३६ ॥

अकामः—भौतिक भोग की इच्छा से रहित शुद्ध भक्त; **सर्व-कामः**—भौतिक भोग की असीमित इच्छाओं वाला व्यक्ति; **वा**—अथवा; **मोक्ष-कामः**—निराकार ब्रह्मज्योति में लीन होने की इच्छा रखनेवाला; **उदार-धीः**—अत्यन्त बुद्धिमान बनकर; **तीव्रेण**—तीव्र; **भक्ति-योगेन**—भगवत्सेवा द्वारा; **यजेत**—उपासना करे; **पुरुषम्**—पुरुष की; **परम्**—परम।

अनुवाद

"'चाहे कोई सब कुछ चाहता हो या कुछ न चाहता हो, अथवा भगवान् से तादात्म्य चाहता हो, वह तभी बुद्धिमान होता है, जब वह दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की पूजा करता है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) से लिया गया है।

अन्य-कामी यदि करे कृष्णेर भजन ।
ना मागितेह कृष्ण तारे देन स्व-चरण ॥ ३७॥

अन्य-कामी यदि करे कृष्णेर भजन ।
ना मागितेह कृष्ण तारे देन स्व-चरण ॥ ३७॥

अन्य-कामी—जो अन्य अनेक वस्तुएँ चाहता है; **यदि**—यदि; **करे**—करता है; **कृष्णेर भजन**—भगवान् कृष्ण की प्रेमभक्ति; **ना मागितेह**—यद्यपि नहीं माँगता; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण; **तारे**—उसे; **देन**—देते हैं; **स्व-चरण**—अपने चरणों का आश्रय।

अनुवाद

"जो लोग भौतिक सुख चाहते हैं या परम सत्य में समा जाना चाहते हैं, यदि वे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में अपने आपको लगाते हैं, तो उन्हें तुरन्त कृष्ण के चरणकमलों में शरण प्राप्त हो जाती है, भले ही वे इसकी याचना न करें। अतः कृष्ण अत्यन्त दयामय हैं।

कृष्ण कहे,—'आमा भजे, मागे विषय-सुख ।
अमृत छाड़ि' विष मागे,—एइ बड़ मूर्ख ॥ ३८ ॥

कृष्ण कहे,—'आमा भजे, मागे विषय-सुख ।
अमृत छाड़ि' विष मागे,—एइ बड़ मूर्ख ॥ ३८ ॥

कृष्ण कहे—कृष्ण कहते हैं; **आमा भजे**—यह मेरी उपासना कर रहा है; **मागे**—परंतु माँगता है; **विषय-सुख**—भौतिक सुख; **अमृत छाड़ि'**—अमृत को छोड़कर; **विष मागे**—वह विष माँगता है; **एइ बड़ मूर्ख**—यह बहुत मूर्ख है।

अनुवाद

"कृष्ण कहते हैं, 'यदि कोई मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगता है, किन्तु साथ ही भौतिक भोग या ऐश्वर्य चाहता है, तो वह महामूर्ख है। निस्सन्देह, वह उस व्यक्ति के समान है, जो अमृत छोड़कर विष पीता है।

आमि—विज्ञ, एइ मूर्खे 'विषय' केने दिब? ।
स्व-चरणामृत दिया 'विषय' भुलाइब ॥ ३९ ॥

आमि—विज्ञ, एइ मूर्खे 'विषय' केने दिब? ।
स्व-चरणामृत दिया 'विषय' भुलाइब ॥ ३९ ॥

आमि—मैं हूँ; **विज्ञ**—सबसे बुद्धिमान; **एइ मूर्खे**—इस मूर्ख व्यक्ति को; **विषय**—भौतिक सुख; **केने दिब**—मैं क्यों दूँगा; **स्व-चरण-अमृत**—मेरे चरणकमलों की शरण रूपी अमृत; **दिया**—देकर; **विषय**—भौतिक सुखभोग का विचार; **भुलाइब**—उसे भुलवा दूँगा।

अनुवाद

"'चूँकि मैं अत्यन्त बुद्धिमान हूँ, अतः मैं इस मूर्ख को भौतिक सम्पन्नता क्यों दूँ? इसके बदले में मैं इसे अपने चरणकमलों की शरण

का अमृत लेने के लिए प्रेरित करूँगा और इसके भ्रामक भौतिक भोग की कामना को भुलवा दूँगा।'

तात्पर्य

जो लोग भौतिक भोग में रुचि रखते हैं, वे *भुक्ति-कामी* कहलाते हैं। जो व्यक्ति ब्रह्मतेज में समाना चाहता है या योग-पद्धति में पूर्णता प्राप्त करना चाहता है, वह भक्त है ही नहीं। भक्तों में ऐसी इच्छाएँ नहीं पाई जातीं। किन्तु यदि किसी तरह कर्मी, ज्ञानी या योगी किसी भक्त के सम्पर्क में आकर कृष्ण की भक्ति करता है, तो कृष्ण तुरन्त उसे भगवत्प्रेम प्रदान करते हैं और अपने चरणकमलों में शरण देते हैं, भले ही उसे इसका कोई अनुमान न हो कि कृष्ण-प्रेम किस तरह विकसित किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति भक्ति के द्वारा भौतिक लाभ चाहता है, तो कृष्ण ऐसी भौतिकतावादी इच्छाओं की निन्दा करते हैं। भक्ति में लगे रहकर भौतिक ऐश्वर्य की कामना करना मूर्खता है। कोई व्यक्ति कितना ही मूर्ख क्यों न हो, कृष्ण सर्वाधिक बुद्धिमान होने के कारण उसे अपनी भक्तिमयी सेवा में इस तरह लगाते हैं, जिससे वह धीरे-धीरे भौतिक ऐश्वर्य को भूल जाता है। बात यह है कि हमें प्रेममयी सेवा के बदले भौतिक समृद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि हम सचमुच कृष्ण के चरणकमलों में शरणागत हैं, तो हमारी एकमात्र इच्छा कृष्ण को प्रसन्न रखने की होनी चाहिए। यही शुद्ध कृष्णभावना है। शरणागति का अर्थ यह नहीं है कि हम भगवान् से कुछ माँग करें, अपितु यह कि हम उनकी कृपा पर पूर्णतया आश्रित रहें। कृष्ण चाहे अपने भक्त को दीनावस्था में रखें या उसे ऐश्वर्य-पूर्ण स्थिति में रखें, भक्त को किसी भी स्थिति में चिन्ता नहीं करनी चाहिए; उसे तो केवल भगवान् को सेवा द्वारा तुष्ट रखने के प्रयास के बारे में अत्यन्त गम्भीर रहना चाहिए।

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थ-दो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छताम्
इच्छा-पिधानं निज-पाद-पल्लवम् ॥ ४० ॥

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थ-दो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छताम्
इच्छा-पिधानं निज-पाद-पल्लवम् ॥ ४० ॥

सत्यम्—यह सत्य है; **दिशति**—वे प्रदान करते हैं; **अर्थितम्**—जो इच्छित है; **अर्थितः**—माँगा गया; **नृणाम्**—मनुष्यों द्वारा; **न**—नहीं; **एव**—अवश्य; **अर्थ-दः**—इच्छित वस्तुएँ देकर; **यत्**—जो; **पुनः**—फिर; **अर्थिता**—माँगी गई; **यतः**—जिससे; **स्वयम्**—स्वयं; **विधत्ते**—वे देते हैं; **भजताम्**—जो प्रेमभक्ति में लगे रहते हैं; **अनिच्छताम्**—न चाहते हुए भी; **इच्छा-पिधानम्**—अन्य इच्छाओं को आवृत करके; **निज-पाद-पल्लवम्**—उनके अपने चरणकमलों की शरण।

अनुवाद

"'जब भी कृष्ण से किसी इच्छा को पूरी करने की विनती की जाती है, तो वे उसे अवश्य पूरी करते हैं, किन्तु वे ऐसा वर नहीं देते, जिसका भोग करने के बाद भी पुनः पुनः माँगने की आवश्यकता पड़े। जब किसी की अन्य इच्छाएँ रहती हैं, किन्तु साथ ही वह भगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो कृष्ण उसे बलपूर्वक अपने चरणकमलों में शरण देते हैं, जहाँ वह अन्य सारी इच्छाओं को भूल जाता है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (५.१९.२७) से है।

কাম লাগি' কৃষ্ণে ভজে, পায় কৃষ্ণ-রসে ।
কাম ছাড়ি' 'দাস' হৈতে হয় অভিলাষে ॥ ৪১ ॥

কাম লাগি' কৃষ্ণে ভজে, পায় কৃষ্ণ-রসে ।
কাম ছাড়ি' 'দাস' হৈতে হয় অভিলাষে ॥ ৪১ ॥

কাম লাগি'—अपनी भौतिक इच्छओं की पूर्ति के लिए; **কৃষ্ণে ভজে**—जो कृष्ण की दिव्य सेवा में लगता है; **পায়**—वह प्राप्त करता है; **কৃষ্ণ-রসে**—भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का रस; **কাম ছাড়ি'**—भौतिक भोग की सभी इच्छाओं को छोड़कर; **দাস হৈতে**—भगवान् का एक नित्य सेवक बनने की; **হয়**—होती है; **অভিলাষে**—इच्छा।

अनुवाद

"जब कोई अपनी इन्द्रियों की तुष्टि हेतु भगवान् कृष्ण की भक्ति में

लगता है, किन्तु उसके विपरीत उसे कृष्ण की सेवा करने का स्वाद मिल जाता है, तो वह अपनी भौतिक इच्छाओं को छोड़कर स्वेच्छा से कृष्ण का सनातन सेवक बन जाता है।

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं
त्वां प्राप्तवान्देव-मुनीन्द्र-गुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्नपि दिव्य-रत्नं
स्वामिन्कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥ ४२ ॥

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं
त्वां प्राप्तवान्देव-मुनीन्द्र-गुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्नपि दिव्य-रत्नं
स्वामिन्कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥ ४२ ॥

स्थान-अभिलाषी—भौतिक जगत् में अत्यन्त ऊँची स्थिति प्राप्त करने का इच्छुक; **तपसि**—कठोर तपस्याओं में; **स्थितः**—लगा रहकर; **अहम्**—मैं; **त्वाम्**—आपको; **प्राप्तवान्**—प्राप्त कर लिया; **देव-मुनि-इन्द्र-गुह्यम्**—महान् देवताओं, मुनियों तथा राजाओं द्वारा प्राप्त करने में कठिन; **काचम्**—एक काँच का टुकड़ा; **विचिन्वन्**—ढूँढते हुए; **अपि**—यद्यपि; **दिव्य-रत्नम्**—एक दिव्य रत्न; **स्वामिन्**—हे मेरे प्रभु; **कृत-अर्थः अस्मि**—मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ; **वरम्**—कोई वरदान; **न याचे**—मैं नहीं माँगता।

अनुवाद

"[जब ध्रुव महाराज को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वर दे रहे थे, तब उन्होंने कहा था :], 'हे प्रभु, चूँकि मैं ऐश्वर्ययुक्त भौतिक पद की खोज में था, इसलिए मैं कठिन तपस्या कर रहा था। अब तो मैंने आपको पा लिया है, जिन्हें बड़े-बड़े देवता, मुनि तथा राजा भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त कर पाते हैं। मैं तो एक काँच का टुकड़ा ढूँढ रहा था, किन्तु इसके बदले मुझे बहुमूल्य रत्न मिल गया है। अतएव मैं इतना सन्तुष्ट हूँ कि अब मैं आपसे कोई वर नहीं चाहता।'

तात्पर्य

यह श्लोक *हरिभक्ति-सुधोदय* (७.२८) का है।

সংসার ভ্রমিতে কোন ভাগ্যে কেহ তরে ।
নদীর প্রবাহে যেন কাষ্ঠ লাগে তীরে ॥ ৪৩ ॥

संसार भ्रमिते कोन भाग्ये केह तरे ।
नदीर प्रवाहे येन काष्ठ लागे तीरे ॥ ४३ ॥

संसार भ्रमिते—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भटकते हुए; **कोन भाग्ये**—कुछ सौभाग्य द्वारा; **केह तरे**—कोई भवसागर पार करता है; **नदीर प्रवाहे**—नदी के प्रवाह में; **येन**—जिस प्रकार; **काष्ठ**—लकड़ी; **लागे**—लग जाती है; **तीरे**—किनारे पर।

अनुवाद

"बद्धजीव ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में भ्रमण करते हुए कई योनियों में प्रवेश करते रहते हैं। सौभाग्यवश इनमें से कोई एक किसी न किसी प्रकार अज्ञान के सागर से मुक्त हो सकता है, जैसे किसी बहती नदी में अनेक बड़ी लकड़ियों में से सहसा कोई एक किनारे तक पहुँच जाए।

तात्पर्य

"ऐसे असंख्य बद्धजीव हैं, जो भगवान् कृष्ण की सेवा से रहित हैं। यह न जानते हुए कि किस तरह अज्ञान-सागर को पार किया जाता है, वे समय के तरंगों द्वारा, इधर-उधर बिखर जाते हैं। किन्तु इनमें से कुछ भाग्यशाली भक्तों की संगति प्राप्त कर पाते हैं और इस संसर्ग के फलस्वरूप अज्ञान सागर से उनका उद्धार हो जाता है, जिस तरह कि नदी की धारा में बहने वाला लकड़ी का टुकड़ा संयोगवश किनारे लग जाता है।

নৈবং মমাধমস্যাপি স্যাদেবাচ্যুত-দর্শনম্ ।
হ্রিয়মাণঃ কাল-নদ্যা ক্বচিত্তরতি কশ্চন ॥ ৪৪ ॥

मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युत-दर्शनम् ।
ह्रियमाणः काल-नद्या क्वचित्तरति कश्चन ॥ ४४ ॥

मा—नहीं; **एवम्**—इस प्रकार; **मम**—मुझ; **अधमस्य**—सबसे पतित का; **अपि**—यद्यपि; **स्यात्**—हो सकता; **एव**—अवश्य; **अच्युत-दर्शनम्**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अच्युत के दर्शन करना; **ह्रियमाणः**—खींचा गया; **काल-नद्या**—काल की नदी द्वारा; **क्वचित्**—कभी-कभी; **तरति**—पार कर जाता है; **कश्चन**—कोई।

अनुवाद

""""यह सोचना मेरा भ्रम था कि, "चूँकि मैं इतना पतित हूँ, इसलिए मुझे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दर्शन का कभी अवसर नहीं मिल सकेगा।" प्रत्युत संयोगवश मुझ जैसा पतित व्यक्ति भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का दर्शन कर सकता है। यद्यपि मनुष्य कालरूपी नदी की तरंगों में बहता रहता है, किन्तु अन्ततः वह किनारे तक पहुँच सकता है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (१०.३८.५) का है और अक्रूर द्वारा कहा गया था।

कोन भाग्ये कारो संसार क्षयोन्मुख हय ।
साधु-सङ्गे तबे कृष्णे रति उपजय ॥४५॥

कोन भाग्ये कारो संसार क्षयोन्मुख हय ।
साधु-सङ्गे तबे कृष्णे रति उपजय ॥ ४५ ॥

कोन भाग्ये—किस सौभाग्य द्वारा; **कारो**—किसी का; **संसार**—बद्ध जीवन; **क्षय-उन्मुख**—समाप्ति के नजदीक; **हय**—होता है; **साधु-सङ्गे**—साधु संग द्वारा; **तबे**—तब; **कृष्णे**—भगवान् कृष्ण में; **रति**—अनुराग; **उपजय**—जाग जाता है।

अनुवाद

"भाग्यवश ही मनुष्य अज्ञान के सागर को पार करने के योग्य बनता है और जब उसके भौतिक अस्तित्व की अवधि घटती है, तो उसे शुद्ध भक्तों की संगति करने का अवसर प्राप्त हो सकता है। ऐसी संगति से कृष्ण के प्रति उसका आकर्षण जाग्रत हो जाता है।

तात्पर्य

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने इसकी व्याख्या दी है। क्या यह *भाग्य* संयोग का फल है या कुछ और? शास्त्रों में भक्ति तथा पुण्यकर्म को भाग्यशाली माना गया है। पुण्यकर्म तीन प्रकार के हो सकते हैं— *भक्त्युन्मुखी सुकृति* अर्थात् ऐसे पुण्यकर्म जो सुप्त कृष्ण-चेतना को जाग्रत करने वाले हैं, *भोगोन्मुखी सुकृति*— जो भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हैं तथा *मोक्षोन्मुखी सुकृति*—जो जीव को

ब्रह्म में तदाकार कराते हैं। अन्तिम दो पुण्यकर्म वास्तव में भाग्यशाली नहीं होते। पुण्यकर्म तभी भाग्यशाली होते हैं, जब वे किसी को कृष्णभावनाभावित होने में सहायक बनते हैं। *भक्त्युन्मुखी* का सौभाग्य तभी प्राप्त होता है, जब कोई किसी भक्त के सम्पर्क में आता है। चाहे या अनचाहे रूप से भक्त की संगति से भक्ति में प्रगति होती है और मनुष्य की सुप्त कृष्ण-चेतना जाग्रत हो उठती है।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सदगतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः ॥४६॥

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः ॥४६॥

भव-अपवर्गः—भौतिक अस्तित्व से मोक्ष; **भ्रमतः**—भ्रमण करते हुए; **यदा**—जब; **भवेत्**—होना चाहिए; **जनस्य**—एक व्यक्ति का; **तर्हि**—उस समय; **अच्युत**—हे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; **सत्-समागमः**—भक्तों के साथ संग; **सत्-सङ्गमः**—भक्तों के साथ संग; **यर्हि**—जब; **तदा**—उस समय; **एव**—केवल; **सत्-गतौ**—जीवन का परम लक्ष्य; **पर-अवर-ईशे**—विश्व के स्वामी; **त्वयि**—आप में; **जायते**—जागता है; **रतिः**—अनुराग।

अनुवाद

"'हे प्रभु! हे अच्युत परम पुरुष! जब पूरे ब्रह्माण्ड में भ्रमण करने वाला व्यक्ति भौतिक संसार से मुक्ति पाने का पात्र बनता है, तो उसे भक्तों की संगति करने का अवसर प्राप्त होता है। जब वह भक्तों की संगति करता है, तो आपके प्रति उसका आकर्षण जाग्रत होता है। आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, सर्वोत्तम भक्तों के चरम गन्तव्य हैं और ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (१०.५१.५३) से उद्धृत है।

कृष्ण यदि कृपा करे कोन भाग्यवाने ।
गुरु-अन्तर्यामि-रूपे शिखाय आपने ॥४७॥

कृष्ण यदि कृपा करे कोन भाग्यवाने ।
गुरु-अन्तर्यामि-रूपे शिखाय आपने ॥ ४७ ॥

कृष्ण—भगवान् कृष्ण; **यदि**—यदि; **कृपा करे**—अपनी कृपा करते हैं; **कोन भाग्यवाने**—किसी भाग्यशाली व्यक्ति पर; **गुरु**—आध्यात्मिक गुरु के; **अन्तर्यामि**—परमात्मा के; **रूपे**—रूप में; **शिखाय**—सिखाते हैं; **आपने**—स्वयं।

अनुवाद

"कृष्ण प्रत्येक जीव के हृदय में चैत्य गुरु अर्थात् अन्तःकरण में स्थित गुरु के रूप में स्थित हैं। जब वे किसी भाग्यशाली बद्धजीव पर दयालु होते हैं, तो वे उसे भीतर से परमात्मा के रूप में और बाहर से गुरु के रूप में भक्ति में प्रगति करने का उपदेश देते हैं।

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्ध-मुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनु-भृतामशुभं विधुन्वन्
आचार्य-चैत्त्य-वपुषा स्व-गतिं व्यनक्ति ॥४८॥

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्ध-मुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनु-भृतामशुभं विधुन्वन्
आचार्य-चैत्त्य-वपुषा स्व-गतिं व्यनक्ति ॥ ४८ ॥

न एव—बिलकुल नहीं; **उपयन्ति**—व्यक्त करने में समर्थ; **अपचितिम्**—अपनी कृतज्ञता; **कवयः**—ज्ञानी भक्त; **तव**—आपके; **ईश**—हे प्रभु; **ब्रह्म-आयुषा**—ब्रह्माजी जितनी जीवन अवधि होने पर; **अपि**—भी; **कृतम्**—उदारता का कार्य; **ऋद्ध**—बढ़ा हुआ; **मुदः**—आनन्द; **स्मरन्तः**—स्मरण करके; **यः**—जो; **अन्तः**—अन्दर; **बहिः**—बाहर; **तनु-भृताम्**—देहधारियों का; **अशुभम्**—दुर्भाग्य; **विधुन्वन्**—दूर करने के लिए; **आचार्य**—सद्गुरु के; **चैत्त्य**—परमात्मा के; **वपुषा**—रूपों द्वारा; **स्व**—अपना; **गतिम्**—मार्ग; **व्यनक्ति**—दिखाते हैं।

अनुवाद

"'हे प्रभु, दिव्य कवि तथा अध्यात्म विज्ञान में पटु व्यक्ति भी आपसे पूरी तरह अपनी कृतज्ञता व्यक्त नहीं कर पाये, यद्यपि उन्हें ब्रह्मा जितनी

दीर्घायु दी गई थी, क्योंकि आप दो रूपों में—बाह्य रूप में आचार्य की तरह और अन्तः-करण में परमात्मा की तरह—देहधारी जीव को अपने पास आने के निमित्त निर्देश देकर उनका उद्धार करने के लिए प्रकट होते हैं।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (११.२९.६) का है। जब श्रीकृष्ण उद्धव को योग की शिक्षा दे चुके, तब उद्धव ने यह श्लोक कहा था।

साधु-सङ्गे कृष्ण-भक्त्ये श्रद्धा यदि हय ।
भक्ति-फल 'प्रेम' हय, संसार याय क्षय ॥४९॥

साधु-सङ्गे कृष्ण-भक्त्ये श्रद्धा यदि हय ।
भक्ति-फल 'प्रेम' हय, संसार याय क्षय ॥४९॥

साधु-सङ्गे—भक्तों के संग द्वारा; **कृष्ण-भक्त्ये**—कृष्ण की प्रेमभक्ति में; **श्रद्धा**—विश्वास; **यदि**—यदि; **हय**—होता है; **भक्ति-फल**—कृष्ण की प्रेमभक्ति का परिणाम; **प्रेम**—भगवत्प्रेम; **हय**—जाग जाता है; **संसार**—भौतिक अस्तित्व का बद्ध जीवन; **याय क्षय**—नष्ट हो जाता है।

अनुवाद

"भक्त की संगति करने से कृष्ण-भक्ति में श्रद्धा जाग्रत होती है। भक्ति के कारण मनुष्य का सुप्त कृष्ण-प्रेम जाग्रत होता है और इस तरह उसका भौतिक बद्ध जीवन समाप्त हो जाता है।

यदृच्छया मत्कथादौ जात-श्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नाति-सक्तो भक्ति-योगोऽस्य सिद्धि-दः ॥५०॥

यदृच्छया मत्कथादौ जात-श्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नाति-सक्तो भक्ति-योगोऽस्य सिद्धि-दः ॥५०॥

यदृच्छया—सौभाग्यवशात्; **मत्-कथा-आदौ**—मेरी कथाओं में; **जात-श्रद्धः**—आकर्षण उत्पन्न हो गया; **तु**—परन्तु; **यः पुमान्**—जो व्यक्ति; **न निर्विण्णः**—झूठा वैराग्य नहीं; **न अति-सक्तः**—भौतिक वस्तुओं से बहुत आसक्त नहीं; **भक्ति-योगः**—भगवत्सेवा की प्रक्रिया; **अस्य**—ऐसे व्यक्ति को; **सिद्धि-दः**—सिद्धि प्रदान करती है।

अनुवाद

"'यदि कोई किसी तरह से मेरी कथा के प्रति आकृष्ट होता है और भगवद्गीता में दीं गईं मेरी शिक्षाओं में श्रद्धा रखता है और यदि मनुष्य में भौतिक वस्तुओं के प्रति झूठी आसक्ति नहीं है और साथ ही वह भौतिक जगत् में अधिक आसक्त नहीं होता है, तो मेरे प्रति उसका सुप्त प्रेम भक्ति द्वारा जाग्रत हो उठेगा।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (११.२०.८) से लिया गया है। यह उस समय की उक्ति है, जब कृष्ण इस भौतिक जगत् से विदा ले रहे थे। इसे कृष्ण ने उद्धव को कहा था।

महत्कृपा विना कोन कर्मे 'भक्ति' नय ।
कृष्ण-भक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय ॥५१॥

महत्कृपा विना कोन कर्मे 'भक्ति' नय ।
कृष्ण-भक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय ॥५१॥

महत्-कृपा—महान् भक्तों की कृपा; **विना**—बिना; **कोन कर्मे**—किसी अन्य कर्म द्वारा; **भक्ति नय**—प्रेम भक्ति नहीं होती; **कृष्ण-भक्ति**—कृष्ण-प्रेम अथवा कृष्ण की भक्तिमयी सेवा; **दूरे रहु**—दूर की बात है; **संसार**—भवबन्धन; **नहे**—नहीं होता; **क्षय**—नष्ट।

अनुवाद

"शुद्ध भक्त की कृपा बिना किसी को भक्ति-पद प्राप्त नहीं हो सकता। कृष्ण-भक्ति की बात जाने दें, मनुष्य भवबन्धन तक से नहीं छूट सकता।

तात्पर्य

पुण्यकर्मों से भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है, किन्तु कोई कितना ही भौतिक पुण्यकर्म क्यों न करे—वह कितना ही दान क्यों न दे या बड़े बड़े अस्पताल या स्कूल खोले या परोपकार के काम करे—वह भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। भक्ति केवल शुद्ध भक्त की कृपा से प्राप्त की जा सकती है। शुद्ध भक्त की कृपा के बिना भौतिक अस्तित्व तक से छुटकारा नहीं मिल सकता। इस श्लोक में

महत् शब्द "शुद्ध भक्त" का सूचक है। *भगवद्गीता* (९.१३) में भगवान् कृष्ण द्वारा इसकी पुष्टि की गई है :

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पृथापुत्र, महात्मा, जो मोहग्रस्त नहीं होते, वे दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूरी तरह से भक्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अव्यय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानते हैं।"

मनुष्य को ऐसे महात्मा की संगति करनी होती है, जिसने कृष्ण को सम्पूर्ण सृष्टि के परम स्रोत के रूप में स्वीकार कर लिया हो। महात्मा हुए बिना मनुष्य कृष्ण की परम स्थिति को नहीं समझ सकता। महात्मा दुर्लभ तथा दिव्य होता है और वही भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त होता है। मूर्ख लोग कृष्ण को मनुष्य मानते हैं और वे कृष्ण के शुद्ध भक्त को भी एक सामान्य व्यक्ति ही मानते हैं। व्यक्ति की भौतिक स्थिति चाहे जो भी हो, उसे भक्त महात्मा के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए और उसे समस्त मानव समाज का सर्वश्रेष्ठ शुभचिन्तक मानना चाहिए। हमें ऐसे महात्मा की शरण में जाना चाहिए और उसकी अहैतुकी कृपा की याचना करनी चाहिए। केवल उसके आशीर्वाद से ही मनुष्य भौतिक जीवन के प्रति आसक्ति से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार मुक्त होने के बाद मनुष्य महात्मा की कृपा से भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में लग सकता है।

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणादगृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्नि-सूर्यैर्
विना महत्पाद-रजोऽभिषेकम् ॥५२॥

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्नि-सूर्यैर्
विना महत्पाद-रजोऽभिषेकम् ॥५२॥

रहूगण—हे राजा रहूगण; **एतत्**—यह; **तपसा**—कठोर तपस्याओं द्वारा; **न याति**—नहीं प्राप्त किया जाता; **न**—नही; **च**—तथा; **इज्यया**—महँगे पूजा अनुष्ठानों द्वारा; **निर्वपणात्**—संन्यास आश्रम ग्रहण करके; **गृहात्**—घर में रहते हुए दान करने के द्वारा; **वा**—अथवा; **न छन्दसा**—न ही वेदों के विद्वत्तापूर्ण अध्ययन द्वारा; **न**—न; **एव**—अवश्य; **जल-अग्नि-सूर्यैः**—जल, आग या सूर्य की उपासना करके; **विना**—बिना; **महत्-पाद-रजः**—एक महात्मा के चरणकमलों की धूलि के; **अभिषेकम्**—अभिषेक।

अनुवाद

"'हे राजा रहूगण, शुद्ध भक्त (महाजन या महात्मा) के चरणकमलों की धूल अपने सिर पर धारण किये बिना मनुष्य भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। केवल कठिन तपस्या करने से, अर्चाविग्रह की भव्य पूजा करने से या संन्यास अथवा गृहस्थाश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करने से अथवा वेदों का अध्ययन करने से, जल में डूबे रहने या आग अथवा कड़ी धूप में खुला बैठने से भक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (५.१२-१२) में आया है। यहाँ पर जड़ भरत राजा रहूगण को बतलाते हैं कि उन्होंने किस तरह परमहंस अवस्था प्राप्त की। सिंधु सौवीर के राजा महाराज रहूगण ने जड़ भरत से पूछा था कि उन्होंने किस तरह परमहंस अवस्था प्राप्त की। राजा ने उन्हें अपनी पालकी ढोने के लिए कहा था, किन्तु जब राजा ने परमहंस जड़ भरत से श्रेष्ठ दर्शन सुना, तो उसे आश्चर्य हुआ और उसने जड़ भरत से पूछा कि उन्हें किस तरह ऐसी महान् मुक्ति प्राप्त हो सकी। उस समय जड़ भरत ने राजा को बतलाया कि किस तरह भौतिक आकर्षण से विरक्त हुआ जा सकता है।

नैषाः मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पाद-रजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥५३॥

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पाद-रजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥ ५३ ॥

न—नहीं; **एषाम्**—गृहस्थ जीवन में आसक्त लोगों की; **मतिः**—रुचि; **तावत्**—तब तक; **उरुक्रम-अङ्घ्रिम्**—असाधारण कर्म करने वाले भगवान् के चरणकमलों को; **स्पृशति**—स्पर्श करते; **अनर्थ**—अवांछित वस्तुओं का; **अपगमः**—विनाश; **यत्**—जिसका; **अर्थः**—परिणाम; **महीयसाम्**—महान् लोगों का, भक्तों का; **पाद-रजः**—चरणकमलों की धूलि का; **अभिषेकम्**—मस्तक पर छिड़कना; **निष्किञ्चनानाम्**—जो भौतिक सम्पत्तियों से पूर्णरूप से विरक्त हैं; **न वृणीत**—नहीं करता; **यावत्**—जब तक।

अनुवाद

"'जब तक मानव-समाज महात्माओं के—वे भक्त जिनका भौतिक सम्पत्ति से कोई लगाव नहीं होता—उनके चरणकमलों की धूल को स्वीकार नहीं करता, तब तक मानव जाति भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की ओर अपना ध्यान नहीं ले जा सकती। वे चरणकमल भौतिक जीवन के समस्त अवांछित कष्टों को दूर करने वाले हैं।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (७.५.३२) में आया है। महामुनि नारद ने महाराज युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए प्रह्लाद महाराज के कार्यों का वर्णन किया। यह श्लोक प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता असुरराज हिरण्यकशिपु से कहा था। उन्होंने अपने पिता को भक्तियोग की नौ आधारभूत विधियाँ बतलाईं और कहा कि जो भी इन विधियों का पालन करता है, उसे अत्यन्त विद्वान पण्डित समझना चाहिए। किन्तु हिरण्यकशिपु को अपने पुत्र द्वारा भक्ति के विषय में ऐसी बातें करना अच्छा नहीं लगा। अतएव उसने तुरन्त ही प्रह्लाद के शिक्षक षण्ड़ को बुलवाया। शिक्षक ने बतलाया कि उसने प्रह्लाद को भक्ति की शिक्षा नहीं दी, अपितु उस बालक में उस तरफ सहज ही झुकाव था। उस समय हिरण्यकशिपु अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और उसने प्रह्लाद से पूछा कि वह वैष्णव क्यों बना। इसके उत्तर में प्रह्लाद महाराज ने यह श्लोक सुनाया, जिसका भावार्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति अन्य भक्त का आशीर्वाद तथा कृपा पाये बिना भगवद्भक्त नहीं बन सकता।

'साधु-सङ्ग', 'साधु-सङ्ग'——सर्व-शास्त्रे कय ।
लव-मात्र साधु-सङ्गे सर्व-सिद्धि हय ॥ ५४॥

'साधु-सङ्ग', 'साधु-सङ्ग'——सर्व-शास्त्रे कय ।
लव-मात्र साधु-सङ्गे सर्व-सिद्धि हय ॥ ५४॥

साधु-सङ्ग साधु-सङ्ग—शुद्ध भक्तों का संग; **सर्व-शास्त्रे**—सभी प्रामाणिक शास्त्र; **कय**—कहते हैं; **लव-मात्र**—एक क्षण के लिए भी; **साधु-सङ्गे**—एक भक्त के संग द्वारा; **सर्व-सिद्धि**—सब सिद्धि; **हय**—हो जाती है।

अनुवाद

"सारे शास्त्रों का निर्णय है कि शुद्ध भक्त के साथ क्षण-भर की संगति से ही मनुष्य सारी सफलता प्राप्त कर सकता है।"

तात्पर्य

ज्योतिष गणना के अनुसार *लव* एक सेकंड के १/११ वें भाग के बराबर होता है।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गि-सङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ ५५॥

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गि-सङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ ५५॥

तुलयाम—हम तुलना करते हैं; **लवेन**—क्षणभर में; **अपि**—भी; **न**—नहीं; **स्वर्गम्**—स्वर्गलोक; **न**—नहीं; **अपुनः-भवम्**—ब्रह्मज्योति में लीन होने के; **भगवत्-सङ्गि-सङ्गस्य**—उन भक्तों की संगति की, जो सदैव भगवान् के संग में रहते हैं; **मर्त्यानाम्**—मरणशील व्यक्तियों का; **किम् उत**—क्या कहना; **आशिषः**—आशीर्वाद।

अनुवाद

"'भगवद्भक्त के साथ क्षण-भर की संगति के मूल्य की तुलना जब स्वर्ग-प्राप्ति या भौतिक बन्धन से मुक्ति से नहीं की जा सकती, तो भौतिक सम्पति के रूप में सांसारिक वरदान के विषय में क्या कहा जाए, जो उन लोगों के लिए है जिन्हें एक न एक दिन मरना ही है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (१.१८.१३) का है। यह श्लोक शौनक ऋषि

आदि नैमिषारण्य के मुनियों द्वारा सम्पन्न वैदिक अनुष्ठानों एवं यज्ञों के सम्बन्ध में है। मुनियों ने यह इंगित किया कि क्षण-भर से भी कम भक्त की संगति हजार वैदिक अनुष्ठानों एवं यज्ञों, स्वर्ग-प्राप्ति अथवा ब्रह्म में तादात्म्य से बढ़कर है।

कृष्ण कृपालु अर्जुनेरे लक्ष्य करिया ।
जगतेरे राखियाछेन उपदेश दिया ॥५६॥

कृष्ण कृपालु अर्जुनेरे लक्ष्य करिया ।
जगतेरे राखियाछेन उपदेश दिया ॥५६॥

कृष्ण—भगवान् कृष्ण; **कृपालु**—कृपालु; **अर्जुनेरे**—अर्जुन को; **लक्ष्य करिया**—लक्ष्य करके; **जगतेरे**—सम्पूर्ण संसार की; **राखियाछेन**—रक्षा कर दी; **उपदेश दिया**—उपदेश देकर।

अनुवाद

"कृष्ण इतने दयालु हैं कि अर्जुन को लक्षित करते हुए अपने उपदेशों के द्वारा उन्होंने सारे जगत् को संरक्षण प्रदान किया है।

सर्व-गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥५७॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्-याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥५८॥

सर्व-गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥५७॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥५८॥

सर्व-गुह्य-तमम्—सबसे अधिक गुप्त; **भूयः**—फिर; **शृणु**—सुनो; **मे**—मेरे; **परमम् वचः**—सर्वोपरि उपदेश; **इष्टः**—प्रिय; **असि**—तुम हो; **मे**—मेरे; **दृढ़म् इति**—दृढ़तापूर्वक; **ततः**—इसलिए; **वक्ष्यामि**—मैं कहूँगा; **ते**—तुमसे; **हितम्**—हितकारी वचन; **मत्-मनाः**—मन को सदैव मुझमें लगाए रखने वाला; **भव**—बनो; **मत्-भक्तः**—मेरे भक्त; **मत्-याजी**—मेरे उपासक; **माम्**—मुझे; **नमस्कुरु**—प्रणाम करो; **माम् एव**—केवल मेरे पास ही; **एष्यसि**—तुम आओगे; **सत्यम्**—सच में; **ते**—तुम्हें; **प्रतिजाने**—मैं वचन देता हूँ; **प्रियः असि**—तुम प्रिय हो; **मे**—मेरे।

अनुवाद

"'चूँकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो, इसलिए मैं तुम्हें मेरे सर्वोत्कृष्ट उपदेश के रूप में ज्ञान के सर्वाधिक गुह्य अंश को बतला रहा हूँ। इसे मुझसे सुनो, क्योंकि यह तुम्हारे लाभ के लिए है। सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस तरह तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो।'

तात्पर्य

ये दोनों श्लोक *भगवद्गीता* (१८.६४-६५) से उद्धृत हैं।

पूर्व आज्ञा,—वेद-धर्म, कर्म, योग, ज्ञान ।
सब साधि' शेषे एइ आज्ञा—बलवान् ॥५९॥

पूर्व आज्ञा,—वेद-धर्म, कर्म, ग्योग, ज्ञान ।
सब साधि' शेषे एइ आज्ञा—बलवान् ॥५९॥

पूर्व आज्ञा—पिछले आदेश; **वेद-धर्म**—वैदिक कर्मकांड करना; **कर्म**—सकाम कर्म; **ग्योग**—योगाभ्यास; **ज्ञान**—तार्किक ज्ञान; **सब साधि'**—इन सभी प्रक्रियाओं का वर्णन करके; **शेषे**—अन्त में; **एइ आज्ञा**—यह आदेश; **बलवान्**—शक्तिशाली।

अनुवाद

"यद्यपि कृष्ण पहले ही वैदिक अनुष्ठान करने, वेदों में वर्णित सकाम कर्म करने, योगाभ्यास करने तथा ज्ञान का अनुशीलन करने की क्षमता बतला चुके थे, किन्तु ये अन्तिम उपदेश अत्यन्त बलवान हैं और अन्य सबसे ऊपर हैं।

एइ आज्ञा-बले भक्तेर 'श्रद्धा' यदि हय ।
सर्व-कर्म त्याग करि' से कृष्ण भजय ॥६०॥

एइ आज्ञा-बले भक्तेर 'श्रद्धा' ग्यदि हय ।
सर्व-कर्म त्याग करि' से कृष्ण भजय ॥६०॥

एइ आज्ञा-बले—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के इस आखरी आदेश के बल पर; **भक्तेर**—

भक्त की; **श्रद्धा**—श्रद्धा; **यदि**—यदि; **हय**—हो जाती है; **सर्व-कर्म**—अन्य सभी भौतिक तथा आध्यात्मिक कर्मों का; **त्याग करि'**—त्याग करके; **से**—वह; **कृष्ण भजय**—भगवान् कृष्ण की सेवा करता है।

अनुवाद

"यदि भक्त को इस आदेश की शक्ति में श्रद्धा है, तो वह अपने सारे कार्यकलापों को त्यागकर भगवान् कृष्ण की पूजा करता है।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ६१ ॥

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ६१ ॥

तावत्—उस काल तक; **कर्माणि**—सकाम कर्म; **कुर्वीत**—करने चाहिए; **न निर्विद्येत**—उत्पन्न नहीं हुए है; **यावता**—जब तक; **मत्-कथा**—मेरी कथाओं के; **श्रवण-आदौ**—श्रवण, कीर्तन आदि में; **वा**—अथवा; **श्रद्धा**—श्रद्धा; **यावत्**—जब तक; **न**—नहीं; **जायते**—जागती है।

अनुवाद

"'जब तक मनुष्य सकाम कर्म से तृप्त नहीं हो जाता और श्रवणं कीर्तनं विष्णोः द्वारा भक्ति के प्रति रुचि जाग्रत नहीं कर लेता, तब तक उसे वेदोक्त विधानों के अनुसार कर्म करना पड़ता है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (११.२०.९) से है।

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय ।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत हय ॥ ६२ ॥

'श्रद्धा'-शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय ।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत हय ॥ ६२ ॥

श्रद्धा-शब्दे—'श्रद्धा' शब्द द्वारा; **विश्वास**—विश्वास; **कहे**—कहा जाता है; **सुदृढ़**—दृढ़; **निश्चय**—संकल्प; **कृष्णे**—भगवान् कृष्ण की; **भक्ति**—प्रेममयी सेवा; **कैले**—करने से; **सर्व-कर्म**—सभी कर्म; **कृत**—सम्पूर्ण; **हय**—हो जाते हैं।

अनुवाद

"कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करने पर मनुष्य स्वतः सारे गौण कर्म सम्पन्न कर लेता है, ऐसा सुदृढ़ निश्चयश्रद्धा कहलाता है। ऐसी श्रद्धा भक्तिमय सेवा को सम्पन्न करने के लिए अनुकूल सिद्ध होती है।

तात्पर्य

दृढ़ निश्चय तथा विश्वास *श्रद्धा* कहलाते हैं। जब कोई मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में तत्पर होता है, तो यह समझा जाता है कि उसने भौतिक जगत् की अपनी सारी जिम्मेदारियाँ पूरी कर ली हैं। उसने अपने पितरों, सामान्य जीवों तथा देवताओं को तुष्ट कर लिया है और वह सारी जिम्मेदारियों से मुक्त है। ऐसे व्यक्ति को अलग से अपनी जिम्मेदारियाँ पूरी करने की आवश्यकता नहीं होती। वे अपने आप पूरी हो जाती हैं। *सकाम कर्म* तो बद्धजीव की इन्द्रियों को तुष्ट करने के निमित्त किया जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत जाग्रत हो जाने पर उसे पुण्यकर्म के लिए अलग से कार्य नहीं करना होता। समस्त कर्म की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है भौतिक जीवन से विरक्ति और जो भक्त भगवान् की सेवा में दृढ़तापूर्वक लगा है, वह इस विरक्ति को सहज रूप से प्राप्त करता है।

यथा तरोर्मूल-निषेचनेन
तृप्यन्ति तज्स्कन्ध-भुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥ ६३ ॥

यथा तरोर्मूल-निषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्ध-भुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥ ६३ ॥

यथा—जिस प्रकार; **तरोः**—वृक्ष की; **मूल**—जड़ में; **निषेचनेन**—पानी डालने से; **तृप्यन्ति**—सन्तुष्ट हो जाते हैं; **तत्**—वृक्ष के; **स्कन्ध**—तना; **भुज**—शाखाएँ; **उपशाखाः**—उपशाखाएँ; **प्राण**—प्राण शक्ति को; **उपहारात्**—भोजन प्रदान करके; **च**—तथा; **यथा**—जैसे; **इन्द्रियाणाम्**—सर्व इन्द्रियों का; **तथा**—इसी प्रकार; **एव**—निश्चय ही; **सर्व**—सभी की; **अर्हणम्**—पूजा; **अच्युत**—भगवान् अच्युत की; **इज्या**—उपासना द्वारा।

अनुवाद

"'वृक्ष की जड़ में पानी डालने से तना, डालियाँ तथा टहनियाँ स्वत: तुष्ट हो जाते हैं। इसी तरह उदर को भोजन देने से प्राण का पोषण होता है, जिससे सारी इन्द्रियाँ तुष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार कृष्ण की पूजा करने से तथा उनकी सेवा करने से सारे देवता तुष्ट हो जाते हैं।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (४.३१.१४) का है।

श्रद्धावान्जन हय भक्ति-अधिकारी ।
'उत्तम', 'मध्यम', 'कनिष्ठ'—श्रद्धा-अनुसारी ॥ ६४॥

श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी ।
'उत्तम', 'मध्यम', 'कनिष्ठ'—श्रद्धा-अनुसारी ॥ ६४॥

श्रद्धावान् जन—श्रद्धायुक्त व्यक्ति; **हय**—है; **भक्ति-अधिकारी**—भगवान् की दिव्य प्रेमभक्ति करने का पात्र; **उत्तम**—उत्तम अधिकारी; **मध्यम**—मध्यम अधिकारी; **कनिष्ठ**—कनिष्ठ अधिकारी; **श्रद्धा-अनुसारी**—श्रद्धा की मात्रा के अनुसार।

अनुवाद

"श्रद्धावान भक्त सचमुच ही भगवान् की प्रेममयी सेवा के लिए सुपात्र है। भक्त की श्रद्धा के अनुसार ही उसकी गणना सर्वोच्च भक्त, मध्यम भक्त या कनिष्ठ भक्त के रूप में की जाती है।

तात्पर्य

श्रद्धावान् शब्द का अर्थ है कृष्ण को ही सर्वस्व अर्थात् शाश्वत सत्य तथा परम दिव्य समझना। यदि मनुष्य को कृष्ण में पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास है, तो वह गुह्य भक्ति करने का पात्र बन जाता है। उसकी श्रद्धा के अनुसार ही वह उत्तम, मध्यम या कनिष्ठ भक्त बनता है।

शास्त्र-युक्त्যে সুনিপুণ, দৃঢ়-শ্রদ্ধা যাঁর ।
'উত্তম-অধিকারী' সেই তারয়ে সংসার ॥ ৬৫॥

शास्त्र-युक्त्ये सुनिपुण, दृढ़-श्रद्धा यार्ँ ।
'उत्तम-अधिकारी' सेइ तारये संसार ॥ ६५॥

शास्त्र-युक्त्ये—तर्क तथा शास्त्र-ज्ञान में; **सु-निपुण**—अत्यन्त दक्ष; **दृढ़-श्रद्धा**—कृष्ण में दृढ़ श्रद्धा तथा विश्वास; **याँर**—जिसका; **उत्तम-अधिकारी**—सर्वोच्च भक्त; **सेइ**—वह; **तारये संसार**—सम्पूर्ण विश्व का उद्धार कर सकता है।

अनुवाद

"जो व्यक्ति तर्क तथा प्रामाणिक शास्त्रों में निपुण है और जिसे कृष्ण में दृढ़ श्रद्धा है, उसकी गणना सर्वोच्च भक्त के रूप में की जाती है। वह सारे संसार का उद्धार कर सकता है।

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ़-निश्चयः ।
प्रौढ़-श्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः ॥६६॥

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ़-निश्चयः ।
प्रौढ़-श्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः ॥६६॥

शास्त्रे—प्रामाणिक शास्त्रों में; **युक्तौ**—तर्क में; **च**—तथा; **निपुणः**—दक्ष; **सर्वथा**—सब प्रकार से; **दृढ़-निश्चयः**—जो दृढ़ निश्चयवान है; **प्रौढ़**—गहरा; **श्रद्धः**—जिसे विश्वास है; **अधिकारी**—पात्र; **यः**—जो; **सः**—वह; **भक्तौ**—भक्ति में; **उत्तमः**—सर्वोत्तम; **मतः**—माना जाता है।

अनुवाद

"'जो तर्क तथा प्रामाणिक शास्त्रों को समझने में निपुण है और जिसका निश्चय दृढ़ होता है तथा जिसकी अगाध श्रद्धा होती है, जो अंधी नहीं होती, उसे उत्तम भक्त माना जाता है।'

तात्पर्य

यह श्लोक श्रील रूप गोस्वामी कृत *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.१७) में आया है।

शास्त्र-युक्ति नाहि जाने दृढ़, श्रद्धावान् ।
'मध्यम-अधिकारी' सेइ महा-भागवान् ॥६७॥

शास्त्र-युक्ति नाहि जाने दृढ़, श्रद्धावान् ।
'मध्यम-अधिकारी' सेइ महा-भाग्यवान् ॥६७॥

शास्त्र-युक्ति—प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर युक्तिपूर्ण तर्क; **नाहि**—नहीं; **जाने**—

जानता; **दृढ़**—दृढ़; **श्रद्धावान्**—श्रद्धायुक्त; **मध्यम-अधिकारी**—द्वितीय श्रेणी का भक्त; **सेइ**—वह; **महा-भाग्यवान्**—अत्यन्त भाग्यशाली।

अनुवाद

"जो प्रामाणिक शास्त्रों पर आधारित तर्क में अधिक दक्ष नहीं है, किन्तु दृढ़ श्रद्धा से युक्त है, वह द्वितीय श्रेणी का (मध्यम) भक्त माना जाता है। उसे भी अत्यन्त भाग्यशाली मानना चाहिए।

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः ॥ ६८॥

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः ॥ ६८॥

यः—जो; **शास्त्र-आदिषु**—प्रामाणिक शास्त्रों में; **अनिपुणः**—अत्यन्त दक्ष नहीं है; **श्रद्धावान्**—श्रद्धावान; **सः**—वह; **तु**—अवश्य; **मध्यमः**—द्वितीय श्रेणी का भक्त।

अनुवाद

"'जो शास्त्रीय तर्क को भलीभाँति नहीं जानता, किन्तु जिसमें दृढ़ श्रद्धा होती है, वह मध्यम या द्वितीय श्रेणी का भक्त कहलाता है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.१८) में पाया जाता है।

याहार कोमल श्रद्धा, से 'कनिष्ठ' जन ।
क्रमे क्रमे तेँहो भक्त हइबे 'उत्तम' ॥ ६९॥

याहार कोमल श्रद्धा, से 'कनिष्ठ' जन ।
क्रमे क्रमे तेंहो भक्त हइबे 'उत्तम' ॥ ६९॥

याहार—जिसका; **कोमल श्रद्धा**—कोमल विश्वास; **से**—ऐसा व्यक्ति; **कनिष्ठ जन**—एक कनिष्ठ भक्त; **क्रमे क्रमे**—क्रमपूर्वक प्रगति करते हुए; **तेंहो**—वह; **भक्त**—भक्त; **हइबे**—बन जायेगा; **उत्तम**—प्रथम श्रेणी।

अनुवाद

जिसकी श्रद्धा कोमल एवं लचकदार होती है, वह कनिष्ठ भक्त कहलाता है। किन्तु विधि का क्रमशः पालन करने से वह प्रथम कोटि (उत्तम) के भक्त-पद को प्राप्त कर लेता है।

यो भवेत्कोमल-श्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते ॥७०॥
यो भवेत्कोमल-श्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते ॥७०॥

यः—जो; **भवेत्**—होता है; **कोमल**—कोमल; **श्रद्धः**—श्रद्धा वाला; **सः**—ऐसा व्यक्ति; **कनिष्ठः**—कनिष्ठ भक्त; **निगद्यते**—कहा जाता है।

अनुवाद

"'जिसकी श्रद्धा अत्यन्त प्रबल नहीं होती, और जिसने अभी शुरूआत की है, उसे नया (कनिष्ठ) भक्त समझना चाहिए।'

तात्पर्य

यह श्लोक भी *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.१९) में आया है।

रति-प्रेम-तारतम्ये भक्त——तर-तम ।
एकादश स्कन्धे तार करियाछे लक्षण ॥७१॥
रति-प्रेम-तारतम्ये भक्त——तर-तम ।
एकादश स्कन्धे तार करियाछे लक्षण ॥७१॥

रति—रति का; **प्रेम**—तथा प्रेम; **तारतम्ये**—तुलना द्वारा; **भक्त**—भक्त; **तर-तम**—मध्यम या उत्तम; **एकादश स्कन्धे**—*श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में; **तार**—इसका; **करियाछे**—किया है; **लक्षण**—लक्षण।

अनुवाद

"भक्त को उसकी अनुरक्ति तथा प्रेम के अनुसार श्रेष्ठतर अथवा श्रेष्ठतम माना जाता है। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में निम्नलिखित लक्षण निश्चित किये गये हैं।

तात्पर्य

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है कि यदि किसी ने कृष्णभावनामृत में श्रद्धा उत्पन्न कर ली है, तो उसे कृष्णभावनामृत में आगे प्रगति करने के लिए सुपात्र मान लिया जाना चाहिए। श्रद्धावानों की तीन कोटियाँ हैं—*उत्तम, मध्यम* तथा *कनिष्ठ* (प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी तथा नया भक्त)। प्रथम श्रेणी के भक्त की प्रामाणिक शास्त्रों में दृढ़ निष्ठा होती है और वह शास्त्रों के अनुसार तर्क करने में दक्ष होता है। उसे कृष्णभावनामृत के विज्ञान में दृढ़ विश्वास होता है। द्वितीय

श्रेणी का भक्त अर्थात् *मध्यम अधिकारी* कृष्णभावनामृत में दृढ़ विश्वास रखता है, किन्तु वह शास्त्रों के उद्धरण देकर अपने विचारों की पुष्टि नहीं कर सकता। नये भक्त में अभी श्रद्धा दृढ़ नहीं होती। इस तरह से भक्तों की तीन श्रेणियाँ बनी हैं।

इसी तरह भक्ति के स्तर का भी वर्गीकरण किया जाता है। नये भक्त को विश्वास होता है कि कृष्ण-प्रेम या कृष्णभावना ही अत्युत्तम है, किन्तु वह नहीं जानता कि शुद्ध कृष्णभावना का क्या आधार है, अथवा कोई किस तरह पूर्ण भक्त बन सकता है। कभी-कभी नये भक्त के हृदय में कर्म, ज्ञान अथवा योग के प्रति आकर्षण रहता है। जब वह ऐसे मिश्रित भक्ति-कार्यों से मुक्त हो जाता है तथा इनसे परे चला जाता है, तब वह द्वितीय श्रेणी का भक्त बन जाता है। जब वह तर्क में पटु हो जाता है और शास्त्रों का प्रमाण दे सकता है, तब वह प्रथम श्रेणी का भक्त बन जाता है। कृष्ण के प्रति प्रेम तथा अनुरक्ति के अनुसार भी भक्तों को श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम कहा जाता है।

यह जान लेना चाहिए कि मध्यम अधिकारी या द्वितीय श्रेणी का भक्त कृष्णभावना के विषय में दृढ़व्रत होता है, किन्तु वह अपने विचारों की पुष्टि शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर नहीं कर पाता। नया भक्त अभक्तों की संगति से नीचे गिर सकता है, क्योंकि वह दृढ़ निश्चय वाला नहीं होता। मध्यम अधिकारी यद्यपि वह अपने तर्क को शास्त्रों के प्रमाण द्वारा स्थापित नहीं कर सकता, किन्तु वह शास्त्रों का अध्ययन करके तथा उत्तम श्रेणी के भक्त की संगति से क्रमशः प्रथम श्रेणी का भक्त बन सकता है। किन्तु यदि मध्यम श्रेणी का भक्त उत्तम श्रेणी के भक्त की संगति करके आगे नहीं बढ़ता, तो वह उन्नति नहीं कर सकता। प्रथम श्रेणी के भक्त के नीचे गिरने की कोई सम्भावना नहीं रहती, भले ही वह प्रचार करते समय अभक्तों से क्यों न मिलता-जुलता हो। दृढ़ संकल्प तथा श्रद्धा क्रमशः बढ़कर भक्त को उत्तम अधिकारी बनाने वाले हैं।

सर्व-भूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥१२॥

सर्व-भूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ ७२ ॥

सर्व-भूतेषु—सभी पदार्थों में (पदार्थ, आत्मा तथा पदार्थ और आत्मा का मिश्रण); **यः**—जो कोई; **पश्येत्**—देखता है; **भगवत्-भावम्**—भगवान् की सेवा में लगने की क्षमता; **आत्मनः**—परमात्मा या भौतिकतावादी जीवन से परे दिव्य तत्त्व; **भूतानि**—सभी जीवों को; **भगवति**—भगवान् में; **आत्मनि**—समग्र अस्तित्व के मूल आधार; **एषः**—यह; **भागवत-उत्तमः**—भक्ति में उन्नत व्यक्ति।

अनुवाद

"'भक्ति में उन्नत व्यक्ति हर वस्तु के भीतर आत्माओं के आत्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को देखता है। फलस्वरूप वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप को समस्त कारणों का कारण के रूप में देखता है और यह समझता है कि सारी वस्तुएँ उन्हीं में स्थित हैं।

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (११.२.४५) से है।

ঈশ্বরে তদধীনেষু বালিশেষু দ্বিষৎসু চ ।
প্রেম-মৈত্রী-কৃপোপেক্ষা যঃ করোতি স মধ্যমঃ ॥৭৩॥

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ ७३ ॥

ईश्वरे—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; **तत्-अधीनेषु**—उनके पूर्ण रूप से शरणागत लोगों में; **बालिशेषु**—नये या अज्ञानियों के प्रति; **द्विषत्सु**—कृष्ण तथा उनके भक्तों से द्वेषी लोगों से; **च**—तथा; **प्रेम**—प्रेम; **मैत्री**—मित्रता; **कृपा**—दया; **उपेक्षा**—अवहेलना; **यः**—जो; **करोति**—करता है; **सः**—वह; **मध्यमः**—द्वितीय श्रेणी का भक्त।

अनुवाद

"'मध्यम भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है, सभी भक्तों के प्रति मैत्रीभाव रखता है और नये भक्तों तथा अज्ञानी व्यक्तियों पर अत्यन्त कृपालु रहता है। जो लोग भक्ति से ईर्ष्या रखते हैं, उनकी वह उपेक्षा करता है।

तात्पर्य

यह उद्धरण भी *श्रीमद्भागवत* (११.२.४६) से लिया गया है। यह महर्षि नारद का कथन है, जब वे वसुदेवजी से भक्ति के विषय में उपदेश दे रहे थे। इस विषय की चर्चा मूल रूप से विदेह के राजा निमि तथा नौ योगेन्द्रों के बीच हुई थी।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥७४॥

अर्चायाम्—मन्दिर की पूजा में; **एव**—निश्चित रूप से; **हरये**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि की प्रसन्नता के लिए; **पूजाम्**—पूजा; **यः**—जो कोई; **श्रद्धया**—श्रद्धा तथा प्रेम के साथ; **ईहते**—करता है; **न**—नहीं; **तत्-भक्तेषु**—भगवान् के भक्तों में; **च अन्येषु**—तथा अन्यों में; **सः**—वह; **भक्तः**—भक्त; **प्राकृतः**—भौतिकतावादी; **स्मृतः**—माना जाता है।

अनुवाद

'"प्राकृत अथवा भौतिकतावादी भक्त शास्त्रों का जानबुझकर अध्ययन नहीं करता और न शुद्ध भक्ति के वास्तविक स्तर को समझने का प्रयास करता है। फलतः वह उन्नत भक्तों के प्रति समुचित आदर प्रदर्शित नहीं करता। किन्तु वह चाहे तो अपने गुरु से या परिवार से सीखी हुई पूजा की विधि विधान का पालन कर सकता है। उसे भौतिक स्तर पर ही माना जाना चाहिए, यद्यपि वह भक्ति में प्रगति करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। ऐसा व्यक्ति भक्तप्राय (नया भक्त) या भक्ताभास होता है, क्योंकि उसे वैष्णव दर्शन से थोड़ा ज्ञान प्राप्त हो जाता है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (११.२.४७) से है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि जिसमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति पूर्ण प्रेम है और जो भगवान् के भक्तों के साथ अच्छी मित्रता रखता है, वह हमेशा उन लोगों की परवाह नहीं करता, जो कृष्ण तथा कृष्ण-भक्तों से द्वेष करते हैं। ऐसे व्यक्ति को मध्यम

स्तर के भक्त मानना चाहिए। जब भक्ति में प्रगति करते हुए वह सारे जीवों के साथ घनिष्ठता का अनुभव करने लगे तथा उन्हें परम पुरुष के अंश के रूप में देखने लगे, तब वह प्रथम कोटि का भक्त बन जाता है।

सर्व महा-गुण-गण वैष्णव-शरीरे ।
कृष्ण-भक्ते कृष्णेर गुण सकलि सञ्चारे ॥ ७५ ॥

सर्व महा-गुण-गण वैष्णव-शरीरे ।
कृष्ण-भक्ते कृष्णेर गुण सकलि सञ्चारे ॥ ७५ ॥

सर्व—सभी; **महा**—महान्; **गुण-गण**—दिव्य गुण; **वैष्णव-शरीरे**—वैष्णवों के शरीरों में; **कृष्ण-भक्ते**—भगवान् कृष्ण के भक्तों में; **कृष्णेर**—भगवान् कृष्ण के; **गुण**—गुण; **सकलि**—सभी; **सञ्चारे**—प्रकट हो जाते हैं।

अनुवाद

"वैष्णव वह है, जिसने समस्त उत्तम दिव्य गुण विकसित कर लिए हों। कृष्ण-भक्त में कृष्ण के सारे सद्गुण क्रमशः विकसित होते हैं।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनो-रथेनासति धावतो बहिः ॥ ७६ ॥

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनो-रथेनासति धावतो बहिः ॥ ७६ ॥

यस्य—जिसकी; **अस्ति**—होती है; **भक्तिः**—प्रेम भक्ति; **भगवति**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; **अकिञ्चना**—भौतिक इच्छाओं से रहित; **सर्वैः**—सभी; **गुणैः**—सद्गुणों के साथ; **तत्र**—वहाँ; **समासते**—रहते हैं; **सुराः**—देवताओं के; **हरौ**—भगवान् के; **अभक्तस्य**—अभक्त के; **कुतः**—कहाँ; **महत्-गुणाः**—महान् गुण; **मनः-रथेन**—मानसिक कल्पना द्वारा; **असति**—क्षणिक सांसारिक खुशी के लिए; **धावतः**—भागते हुए; **बहिः**—बाहरी।

अनुवाद

"'कृष्ण में जिस व्यक्ति की अविचल भक्तिमयी श्रद्धा होती है, उस

व्यक्ति में कृष्ण तथा देवताओं के समस्त सद्गुण सदा प्रकट होते हैं। किन्तु जिसमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति भक्ति नहीं होती, उसमें कोई सद्गुण नहीं होते, क्योंकि वह उस भौतिक जगत् में मानसिक कल्पना में लगा रहता है, जो भगवान् का बाह्य लक्षण है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (५.१८.१२) का है। इसे प्रह्लाद महाराज तथा उनके अनुयायियों ने नृसिंहदेव की स्तुति करते हुए कहा था।

सेई सब गुण हय वैष्णव-लक्षण ।
सब कहा ना याय, करि दिग्दरशन ॥७७॥

सेइ सब गुण हय वैष्णव-लक्षण ।
सब कहा ना याय, करि दिग्दरशन ॥७७॥

सेइ सब गुण—वे सभी दिव्य गुण; **हय**—हैं; **वैष्णव-लक्षण**—वैष्णव के लक्षण; **सब**—सभी; **कहा ना याय**—वर्णन नहीं किये जा सकते; **करि**—मैं करूँगा; **दिक्-दरशन**—संक्षिप्त वर्णन।

अनुवाद

"ये सारे दिव्य गुण शुद्ध वैष्णवों के लक्षण हैं और इनकी पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती, किन्तु मैं इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण गुणों को इंगित करने का प्रयास करूँगा।

कृपालु, अकृत-द्रोह, सत्य-सार सम ।
निदोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिञ्चन ॥७८॥
सर्वोपकारक, शान्त, कृष्णैक-शरण ।
अकाम, अनीह, स्थिर, विजित-षड्-गुण ॥७९॥
मित-भुक्, अप्रमत्त, मानद, अमानी ।
गम्भीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी ॥८०॥

कृपालु, अकृत-द्रोह, सत्य-सार सम ।
निदोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिञ्चन ॥७८॥
सर्वोपकारक, शान्त, कृष्णैक-शरण ।
अकाम, अनीह, स्थिर, विजित-षड्-गुण ॥७९॥

मित-भुक्, अप्रमत्त, मानद, अमानी ।
गम्भीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी ॥ ८० ॥

कृपालु—दयालु; **अकृत-द्रोह**—बदला न लेने वाला; **सत्य-सार**—पूर्ण रूप से सच्चा; **सम**—समभाव; **निदोष**—दोषरहित; **वदान्य**—उदार; **मृदु**—कोमल; **शुचि**—स्वच्छ; **अकिञ्चन**—भौतिक सम्पत्तियों से रहित; **सर्व-उपकारक**—सभी के कल्याण के लिए कर्म करने वाले; **शान्त**—शान्त; **कृष्ण-एक-शरण**—पूर्ण रूप से कृष्ण का शरणागत; **अकाम**—इच्छा रहित; **अनीह**—भौतिक संग्रह के प्रति अनासक्त; **स्थिर**—दृढ़; **विजित-षट्-गुण**—छः दुर्गुणों को पूर्ण रूप से वश में करने वाले (काम, क्रोध, लोभ इत्यादि); **मित-भुक्**—जितना आवश्यक हो उतना ही खाने वाले; **अप्रमत्त**—उन्मत्तता से रहित; **मान-द**—सबको सम्मान देने वाले; **अमानी**—मिथ्या गर्व से रहित; **गम्भीर**—गम्भीर; **करुण**—करुणाशील; **मैत्र**—मित्र; **कवि**—कवि; **दक्ष**—निपुण; **मौनी**—मौन।

अनुवाद

"भक्तगण सदैव कृपालु, विनीत, सत्यवादी, सबके प्रति समभाव रखने वाले, निर्दोष, उदार, मृदु तथा स्वच्छ होते हैं। उनके पास भौतिक सम्पत्ति नहीं होती और वे हर एक के लिए उपकार का कार्य करते हैं। वे शान्त, कृष्ण के शरणागत तथा इच्छारहित होते हैं। वे भौतिक उपलब्धियों के प्रति उदासीन रहते हैं और भक्ति में स्थिर रहते हैं। वे छः दुर्गुणों—काम, क्रोध, लोभ इत्यादि—पर पूरा नियन्त्रण रखते हैं। वे आवश्यकता अनुसार खाते हैं और उन्मत्तता से अप्रभावित होते हैं। वे दूसरों का आदर करने वाले, गम्भीर, दयालु तथा झूठी प्रतिष्ठा से रहित होते हैं। वे मैत्रीपूर्ण, कवि, दक्ष तथा मौन होते हैं।

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्व-देहिनाम् ।
अजात-शत्रवः शान्ताः साधवः साधु-भूषणाः ॥ ८१ ॥
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्व-देहिनाम् ।
अजात-शत्रवः शान्ताः साधवः साधु-भूषणाः ॥ ८१ ॥

तितिक्षवः—अत्यन्त सहनशील; **कारुणिकाः**—करुणावान; **सुहृदः**—भला चाहने वाला; **सर्व-देहिनाम्**—सभी जीवों का; **अजात-शत्रवः**—शत्रु से रहित; **शान्ताः**—शान्त; **साधवः**—शास्त्रों के निर्देश मानने वाले; **साधु-भूषणाः**—सदाचार से शोभित।

अनुवाद

"'भक्तगण सदैव सहिष्णु तथा दयालु होते हैं। वे प्रत्येक जीव के शुभचिन्तक होते हैं। वे शास्त्रों के आदेशों का पालन करते हैं और उनका कोई शत्रु नहीं होता, इसलिए वे अत्यन्त शान्त होते हैं। ये भक्तों के आभूषण हैं।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२१) का है। जब शौनकादि मुनियों ने सर्वश्रेष्ठ भगवद्भक्त सूत गोस्वामी से भगवान् के अवतार कपिलदेव के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की, तब उन्होंने व्यासदेव के मित्र मैत्रेय तथा विदुर के बीच आत्म-साक्षात्कार विषयक वार्ताएँ प्रस्तुत कीं। उसी प्रसंग में मैत्रेय ने कपिलदेव और उनकी माता के बीच हुई चर्चा को दोहराया, जिसमें भगवान् कहते हैं कि भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति ही बद्ध जीवन का कारण है। जब मनुष्य आध्यात्मिक वस्तुओं के प्रति अनुरक्त होता है, तब वह मुक्ति-मार्ग पर आरूढ़ होता है।

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्
तमो-द्वारं योषितां सङ्गि-सङ्गम् ।
महान्तस्ते सम-चित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥८२॥

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्
तमो-द्वारं य्रोषितां सङ्गि-सङ्गम् ।
महान्तस्ते सम-चित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो य्रे ॥८२॥

महत्-सेवाम्—शुद्ध भक्त सद्गुरु की सेवा; **द्वारम्**—द्वार; **आहुः**—उन्होंने कहा; **विमुक्तेः**—मोक्ष का; **तमः-द्वारम्**—अन्धकार का द्वार; **य्रोषिताम्**—स्त्रियों तथा धन के; **सङ्गि-सङ्गम्**—संग का आनन्द लेने वालों का संग; **महान्तः**—महात्मा जन; **ते**—वे; **सम-चित्ताः**—सबके प्रति समभाव वाले; **प्रशान्ताः**—अत्यन्त शान्त; **विमन्यवः**—क्रोध से रहित; **सुहृदः**—सभी का भला चाहने वाले; **साधवः**—जो सभी सद्गुणों से युक्त हैं अथवा जो दूसरों में दोष नहीं ढूँढते; **य्रे**—जो।

अनुवाद

"'समस्त शास्त्रों तथा महापुरुषों का यह निर्णय है कि शुद्ध भक्त की सेवा करने से मुक्ति-पथ प्राप्त होता है। किन्तु भौतिक भोग तथा स्त्रियों पर आसक्त रहने वाले भौतिकतावादी लोगों की संगति करने से अन्धकार का पथ प्राप्त होता है। जो वास्तव में भक्त हैं, वे विशाल-हृदय वाले, सबके प्रति समभाव रखने वाले तथा अत्यन्त शान्त होते हैं। वे कभी क्रोधित नहीं होते और सारे जीवों से मैत्री-भाव रखते हैं।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (५.५.२) से लिया गया है।

कृष्ण-भक्ति-जन्म-मूल हय 'साधु-सङ्ग' ।
कृष्ण-प्रेम जन्मे, तेँहो पुनः मुख्य अङ्ग ॥ ८३॥

कृष्ण-भक्ति-जन्म-मूल हय 'साधु-सङ्ग' ।
कृष्ण-प्रेम जन्मे, तेंहो पुनः मुख्य अङ्ग ॥ ८३॥

कृष्ण-भक्ति—कृष्ण की प्रेमभक्ति का; **जन्म-मूल**—मूल कारण; **हय**—है; **साधु-सङ्ग**—उन्नत भक्तों का संग; **कृष्ण-प्रेम**—कृष्ण-प्रेम; **जन्मे**—जागृत होता है; **तेंहो**—भक्तों के साथ वही संग; **पुनः**—फिर; **मुख्य अङ्ग**—मुख्य नियम।

अनुवाद

"कृष्ण-भक्ति का मूल कारण महान् भक्तों की संगति है। कृष्ण के प्रति सुप्त प्रेम के जाग्रत हो जाने पर भी भक्तों की संगति अत्यावश्यक है।

ভবাপবর্গো ভ্রমতো যদা ভবেজ্
জনস্য তর্হ্যচ্যুত সঙ্সমাগমঃ ।
সঙ্সঙ্গমো যর্হি তদৈব সদ্গতৌ
পরাবরেশে ত্বয়ি জায়তে রতিঃ ॥ ৮৪॥

ভবাপবর্গো ভ্রমতো যদা ভবেজ্
জনস্য তর্হ্যচ্যুত সৎসমাগমঃ ।

सत्सङ्गमो ग्रर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः ॥ ८४ ॥

भव-अपवर्गः—भौतिक बन्धन से मुक्ति; **भ्रमतः**—भ्रमण करते हुए; **ग्रदा**—जब; **भवेत्**—हो; **जनस्य**—एक व्यक्ति की; **तर्हि**—उस समय; **अच्युत**—हे भगवान् अच्युत; **सत्-समागमः**—भक्तों का संग; **सत्-सङ्गमः**—भक्तों का संग; **ग्रर्हि**—जब; **तदा**—तब; **एव**—ही; **सत्-गतौ**—जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य; **पर-अवर-ईशे**—जगत् के स्वामी; **त्वयि**—आप में; **जायते**—जागृत होता है; **रतिः**—आकर्षण।

अनुवाद

'"हे प्रभु! हे अच्युत परम पुरुष! जब कोई व्यक्ति ब्रह्माण्डों में घूमते घूमते भौतिक संसार से मोक्ष पाने के योग्य बनता है, तब उसे भक्तों की संगति करने का अवसर प्राप्त होता है। जब वह भक्तों की संगति करता है, तब आपके प्रति उसका आकर्षण जाग्रत होता है। आप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, सर्वोत्कृष्ट भक्तों के सर्वोच्च लक्ष्य तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (१०.५१.५३) का है।

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः सेवधिर्नृणाम् ॥ ८५ ॥
अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः सेवधिर्नृणाम् ॥ ८५ ॥

अतः—इसलिए (शुद्ध भक्तों के दर्शन की दुर्लभता के कारण); **आत्यन्तिकम्**—परम; **क्षेमम्**—सौभाग्य; **पृच्छामः**—हम पूछ रहे हैं; **भवतः**—आपसे; **अनघाः**—हे निष्पाप; **संसारे**—भौतिक संसार में; **अस्मिन्**—इस; **क्षण-अर्धः**—आधे क्षण के लिए; **अपि**—भी; **सत्-सङ्गः**—भक्तों का संग; **सेवधिः**—खजाना; **नृणाम्**—मानव समाज के लिए।

अनुवाद

'"हे भक्तों! समस्त पापों से मुक्त तुम सब लोगों! मैं तुम सबसे उसके विषय में पूछता हूँ, जो सारे जीवों के लिए परम कल्याणकारी है। इस भौतिक जगत् में शुद्ध भक्त के साथ आधे क्षण की संगति भी मानव समाज के लिए सबसे बड़ा खजाना है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (११.२.३०) का है।

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य-संविदो
भवन्ति हृत्कर्ण-रसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्ग-वर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ ८६॥

सताम्—भक्तों के; **प्रसङ्गात्**—अन्तरंग संग द्वारा; **मम**—मेरे; **वीर्य-संविदः**—दिव्य शक्ति से भरपूर चर्चाएँ; **भवन्ति**—होती हैं; **हृत्**—हृदय के लिए; **कर्ण**—कानों के लिए; **रस-आयनाः**—मधुरता का स्रोत; **कथाः**—कथाएँ; **तत्**—उनके; **जोषणात्**—उचित अभ्यास से; **आशु**—शीघ्र ही; **अपवर्ग**—मुक्ति के; **वर्त्मनि**—मार्ग पर; **श्रद्धा**—श्रद्धा; **रतिः**—आकर्षण; **भक्तिः**—प्रेम; **अनुक्रमिष्यति**—एक के बाद एक विकसित हो जायेंगे।

अनुवाद

"'आध्यात्मिक रूप से बलशाली भगवत्-सन्देश की समुचित चर्चा केवल भक्तों के समाज में हो सकती है और उनके संग में श्रवण करना अत्यन्त प्रिय लगता है। यदि भक्तों से सुना जाता है, तो दिव्य अनुभव का मार्ग तुरन्त खुल जाता है और क्रमशः दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, जो कालान्तर में आकर्षण तथा भक्ति में बदल जाती है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) से है। इसकी व्याख्या के लिए देखें आदिलीला १.६०।

असत्सङ्ग-त्याग,—एই বৈষ্ণব-আচার ।
'স্ত্রী-সঙ্গী'—এক অসাধু, 'কৃষ্ণাভক্ত' আর ॥ ৮৭॥

असत्सङ्ग-त्याग,—एइ वैष्णव-आचार ।
'स्त्री-सङ्गी'—एक असाधु, 'कृष्णाभक्त' आर ॥ ८७॥

असत्-सङ्ग-त्याग—अभक्तों के संग का त्याग; **एइ**—यह; **वैष्णव-आचार**—एक वैष्णव का आचरण है; **स्त्री-सङ्गी**—इन्द्रियतृप्ति के लिए स्त्रियों का संग करने वाला; **एक**—एक; **असाधु**—असाधु व्यक्ति; **कृष्ण-अभक्त**—जो कृष्ण का भक्त नहीं है; **आर**—दूसरा।

अनुवाद

"वैष्णव को सामान्य लोगों की संगति से हमेशा बचना चाहिए। सामान्य लोग बुरी तरह से भौतिकता में, विशेषतया स्त्रियों में आसक्त रहते हैं। वैष्णवों को उन लोगों की भी संगति से बचना चाहिए, जो कृष्ण-भक्त नहीं हैं।

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद् याति सङ्क्षयम् ॥ ८८ ॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीड़ा-मृगेषु च ॥ ८९ ॥
न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य-प्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गि-सङ्गतः ॥ ९० ॥

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद् याति सङ्क्षयम् ॥ ८८ ॥
तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीड़ा-मृगेषु च ॥ ८९ ॥
न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य-प्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गि-सङ्गतः ॥ ९० ॥

सत्यम्—सत्यता; **शौचम्**—स्वच्छता; **दया**—दया; **मौनम्**—मौन; **बुद्धिः**—बुद्धि; **ह्रीः**—लज्जा; **श्रीः**—सुन्दरता; **यशः**—कीर्ति; **क्षमा**—क्षमा; **शमः**—मन को नियन्त्रित करना; **दमः**—इन्द्रियों को वश में करना; **भगः**—ऐश्वर्य; **च**—तथा; **इति**—इस प्रकार; **यत्**—जिनके; **सङ्गात्**—संग द्वारा; **याति**—जाता है; **सङ्क्षयम्**—पूर्ण विनाश; **तेषु**—उनमें; **अशान्तेषु**—जो अशान्त हैं; **मूढ़ेषु**—मूर्खों के बीच; **खण्डित-आत्मसु**—जिनका आत्म-साक्षात्कार नष्ट हो गया है; **असाधुषु**—जो सज्जन नहीं हैं; **सङ्गम्**—संगति; **न**—नहीं; **कुर्यात्**—करनी चाहिए; **शोच्येषु**—जो शोक करते हैं; **योषित्**—स्त्रियों के; **क्रीड़ा-मृगेषु**—खिलौने पशु के समान है; **च**—तथा; **न**—नहीं; **तथा**—तथा; **अस्य**—उसका; **भवेत्**—होगा; **मोहः**—मोह; **बन्धः**—बन्धन; **च**—तथा; **अन्य**—दूसरे प्रकार के; **प्रसङ्गतः**—संग से; **योषित्-सङ्गात्**—स्त्रियों के

संग द्वारा; **यथा**—जिस प्रकार; **पुंसः**—एक मनुष्य का; **यथा**—साथ ही; **तत्-सङ्गि-सङ्गतः**—स्त्रियों में आसक्त व्यक्तियों के संग द्वारा।

अनुवाद

"'संसारी लोगों की संगति से मनुष्य सत्य, शौच, दया, गम्भीरता, आध्यात्मिक बुद्धि, लज्जा, तपस्या, यश, क्षमा, मन का संयम, इन्द्रिय निग्रह, ऐश्वर्य तथा समस्त अवसरों से विहीन हो जाता है। मनुष्य को कभी भी ऐसे निरे मूर्ख की संगति नहीं करनी चाहिए, जो आत्म-साक्षात्कार के ज्ञान से रहित हो और जो स्त्रियों के हाथ का पशु के समान खिलौना बना हुआ हो। अन्य किसी वस्तु से आसक्ति के फलस्वरूप उत्पन्न मोह तथा बन्धन उतना खतरनाक नहीं होता, जितना कि स्त्री या स्त्रियों पर अत्यन्त अनुरक्त रहने वाले पुरुषों की संगति करने से होता है।'

तात्पर्य

ये श्लोक *श्रीमद्भागवत* (३.३१.३३-३५) से उद्धृत हैं। इन्हें भगवान् के अवतार कपिलदेव ने अपनी माता से कहा था। इन श्लोकों में कपिलदेव पुण्यकर्मों तथा पापकर्मों की व्याख्या करते हैं और कृष्ण-भक्ति से विहीन व्यक्तियों के लक्षण बतलाते हैं। सामान्यतया लोग किसी भी योनि में माता के गर्भ के भीतर की कष्टप्रद दशाओं के विषय में नहीं जानते। बुरी संगति के कारण मनुष्य क्रमशः निम्नतर योनियों में जा गिरता है। इस प्रसंग में स्त्रियों की संगति पर विशेष बल दिया गया है। जब कोई व्यक्ति स्त्रियों पर आसक्त होता है या स्त्रियों पर आसक्त रहने वाले व्यक्तियों से जुड़ा होता है, तो वह निम्नतर योनियों में जा गिरता है। *भगवद्गीता* (१३.२२) में कहा गया है :

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

"भौतिक प्रकृति में प्रकृति के तीनों गुणों का भोग करते हुए जीव अपना जीवन बिताता है। ऐसा भौतिक प्रकृति के साथ उसकी संगति के कारण होता है। इस तरह उसे विभिन्न योनियों में भले-बुरे का सामना करना पड़ता है।"

वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य की स्त्री के साथ संगति बहुत सीमित होनी चाहिए। आध्यात्मिक जीवन के चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

वानप्रस्थ तथा संन्यास। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के लिए स्त्रियों की संगति पूरी तरह से वर्जित है। केवल गृहस्थों को बहुत सीमित अवस्थाओं में स्त्री-संग करने की अनुमति है—अर्थात् उत्तम सन्तान के लिए ही स्त्रियों की संगति की जाती है। संगति के अन्य कारणों की निन्दा की गई है।

वरं हुत-वह-ज्वाला-पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।
न शौरि-चिन्ता-विमुख-जन-संवास-वैशसम् ॥९१॥

वरं हुत-वह-ज्वाला-पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।
न शौरि-चिन्ता-विमुख-जन-संवास-वैशसम् ॥ ९१ ॥

वरम्—अच्छा है; **हुत-वह**—आग की; **ज्वाला**—ज्वालाओं में; **पञ्जर-अन्तः**—एक पिंजरे में; **व्यवस्थितिः**—रहना; **न**—नहीं; **शौरि-चिन्ता**—कृष्णभावना या कृष्ण के विचार के; **विमुख**—रहित; **जन**—लोगों के; **संवास**—संग की; **वैशसम्**—विपदा।

अनुवाद

"'पिंजरे के भीतर बन्दी होने तथा जलती अग्नि के द्वारा घिर जाने जैसे कष्टों को सहन कर लेना कृष्णभावना से विहीन लोगों की संगति करने से श्रेयस्कर है। ऐसी संगति महान् विपदापूर्ण है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *कात्यायन-संहिता* से है।

मा द्राक्षीः क्षीण-पुण्यान्कचिदपि भगवद्भक्ति-हीनान्मनुष्यान् ॥९२॥

मा द्राक्षीः क्षीण-पुण्यान् क्वचिदपि भगवद्भक्ति-हीनान् मनुष्यान् ॥ ९२ ॥

मा—न; **द्राक्षीः**—देखो; **क्षीण-पुण्यान्**—पुण्य से रहित लोगों को; **क्वचित् अपि**—किसी भी समय; **भगवत्-भक्ति-हीनान्**—जो कृष्णभावना तथा भक्तिमय सेवा से रहित हैं; **मनुष्यान्**—लोग।

अनुवाद

"'जो लोग कृष्णभावनामृत से विहीन होने के कारण पुण्यकर्मों से रहित हैं, उनको देखना तक नहीं चाहिए।'

এত সব ছাড়ি' আর বর্ণাশ্রম-ধর্ম ।
অকিঞ্চন হঞা লয় কৃষ্ণৈক-শরণ ॥ ৯৩ ॥

এত সব ছাড়ি' আর বর্ণাশ্রম-ধর্ম ।
অকিঞ্চন হঞা লয় কৃষ্ণৈক-শরণ ॥ ৯৩ ॥

এত সব—ये सभी; **छाड़ि'**—छोड़कर; **आर**—तथा; **वर्ण-आश्रम-धर्म**—चार वर्णों और चार आश्रमों के नियम; **अकिञ्चन**—किसी भी भौतिक आसक्ति से रहित; **हञा**—होकर; **लय**—वह लेता है; **कृष्ण-एक-शरण**—कृष्ण के चरणकमलों की एकांतिक शरण।

अनुवाद

"मनुष्य को बुरी संगति त्यागकर तथा चारों वर्णों और चारों आश्रमों के विधानों की भी उपेक्षा करके बिना किसी द्विधा के पूर्ण विश्वास के साथ भगवान् कृष्ण की एकमात्र शरण ग्रहण करनी चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को सभी भौतिक आसक्ति का त्याग करना चाहिए।

সর্ব-ধর্মান্পরিত্যজ্য মামেকং শরণং ব্রজ ।
অহং ত্বাং সর্ব-পাপেভ্যো মোক্ষয়িষ্যামি মা শুচঃ ॥ ৯৪ ॥

সর্ব-ধর্মান্পরিত্যজ্য মামেকং শরণং ব্রজ ।
অহং ত্বাং সর্ব-পাপেভ্যো মোক্ষয়িষ্যামি মা শুচঃ ॥ ৯৪ ॥

सर्व-धर्मान्—सभी प्रकार के नियत कर्मों का; **परित्यज्य**—त्याग करके; **माम् एकम्**—केवल मेरी; **शरणम्**—शरण में; **व्रज**—आ जाओ; **अहम्**—मैं; **त्वाम्**—तुम्हें; **सर्व-पापेभ्यः**—पापमय जीवन के सभी प्रतिफलों से; **मोक्षयिष्यामि**—मुक्ति प्रदान करूँगा; **मा**—मत; **शुचः**—चिन्ता करो।

अनुवाद

"'यदि तुम सारे धार्मिक तथा वृत्तिपरक कर्तव्यों को त्यागकर मुझ, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण करते हो, तो मैं तुम्हें जीवन के सारे पापमय फलों से सुरक्षा प्रदान करूँगा। तुम चिन्ता मत करो।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *भगवद्गीता* (१८.६६) से है, जिसे भगवान् कृष्ण ने कहा है। इसकी व्याख्या के लिए देखें मध्यलीला ८.६३।

ভক্ত-বত্সল, কৃতজ্ঞ, সমর্থ, বদান্য ।
হেন কৃষ্ণ ছাড়ি' পণ্ডিত নাহি ভজে অন্য ॥৯৫॥

भक्त-वत्सल, कृतज्ञ, समर्थ, वदान्य ।
हेन कृष्ण छाड़ि' पण्डित नाहि भजे अन्य ॥ ९५ ॥

भक्त-वत्सल—भक्तों के प्रति अत्यन्त दयालु; **कृत-ज्ञ**—कृतज्ञ; **समर्थ**—योग्यता से पूर्ण; **वदान्य**—उदार; **हेन**—ऐसे; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण को; **छाड़ि'**—छोड़कर; **पण्डित**—एक विद्वान व्यक्ति; **नाहि**—नहीं; **भजे**—उपासना करता; **अन्य**—किसी अन्य की।

अनुवाद

"कृष्ण अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त कृपालु हैं। वे सदैव अत्यधिक कृतज्ञ तथा उदार हैं और समस्त क्षमताओं से युक्त हैं। विद्वान व्यक्ति अन्य किसी की पूजा करने के लिए कृष्ण को नहीं छोड़ते।

तात्पर्य

बुद्धिमान व्यक्ति स्त्रियों के प्रति आसक्त तथा कृष्ण-चेतना से विहिन व्यक्तियों का साथ छोड़ देते हैं। मनुष्य को सभी प्रकार की भौतिक आसक्ति से मुक्त होना चाहिए और कृष्ण के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण करनी चाहिए। कृष्ण अपने भक्तों पर अत्यन्त कृपालु हैं। वे सदैव कृतज्ञ रहने वाले हैं और अपने भक्तों की सेवा को कभी नहीं भूलते। वे पूर्णतया ऐश्वर्यवान तथा सर्वशक्तिमान हैं। तो फिर अन्य किसी देवता की शरण क्यों ग्रहण की जाए तथा कृष्ण की शरण का परित्याग किया जाये ? यदि कोई देवता को पूजता है और कृष्ण को छोड़ देता है, तो वह अधम मूर्ख है।

কঃ পণ্ডিতস্ত্বদপরং শরণং সমীয়াদ্
ভক্ত-প্রিয়াদৃত-গিরঃ সুহৃদঃ কৃতজ্ঞাৎ ।
সর্বান্দদাতি সুহৃদো ভজতোঽভিকামান্
আত্মানমপ্যুপচয়াপচয়ৌ ন যস্য ॥৯৬॥

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्
भक्त-प्रियादृत-गिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामान्
आत्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥ ९६ ॥

कः—कौन सा; **पण्डितः**—विद्वान व्यक्ति; **त्वत्-अपरम्**—आपके अलावा किसी और की; **शरणम्**—शरण; **समीयात्**—लेगा; **भक्त-प्रियात्**—जो अपने भक्तों के प्रति स्नेहशील हैं; **ऋत-गिरः**—जो भक्तों के प्रति सच्चे हैं; **सुहृदः**—जो भक्तों के मित्र हैं; **कृत-ज्ञात्**—जो भक्तों के कृतज्ञ हैं; **सर्वान्**—सभी; **ददाति**—देते हैं; **सुहृदः**—अपने मित्रों को; **भजतः**—जो प्रेमभक्ति से आपकी उपासना करते हैं; **अभिकामान्**—इच्छाएँ; **आत्मानम्**—स्वयं को; **अपि**—भी; **उपचय**—वृद्धि; **अपचयौ**—तथा ह्रास; **न**—नहीं होता; **ग्रस्य**—जिनका।

अनुवाद

"'हे प्रभु, आप अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त वत्सल हैं। आप सत्यनिष्ठ तथा कृतज्ञ मित्र भी हैं। भला ऐसा कौन विद्वान व्यक्ति होगा, जो आपको त्यागकर अन्य किसी की शरण ग्रहण करेगा? आप अपने भक्तों की सारी इच्छाएँ पूर्ण करते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी आप उन्हें अपने आपको भी दे देते हैं। फिर भी ऐसे कार्य से न आप में वृद्धि होती है, न कमी आती है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *श्रीमद्भागवत* (१०.४८.२६) से लिया गया है।

विज्ञ-जनेर हय यदि कृष्ण-गुण-ज्ञान ।
अन्य त्यजि', भजे, ताते उद्धव——प्रमाण ॥९७॥

विज्ञ-जनेर हय ग्रदि कृष्ण-गुण-ज्ञान ।
अन्य त्यजि', भजे, ताते उद्धव——प्रमाण ॥ ९७॥

विज्ञ-जनेर—एक अनुभव वाले व्यक्ति को; **हय**—होता है; **ग्रदि**—यदि; **कृष्ण-गुण-ज्ञान**—कृष्ण के दिव्य गुणों का ज्ञान; **अन्य**—अन्यों को; **त्यजि'**—त्यागकर; **भजे**—वह भक्तिमयी सेवा में लग जाता है; **ताते**—इस सन्दर्भ में; **उद्धव**—उद्धव; **प्रमाण**—प्रमाण हैं।

अनुवाद

"जब कोई अनुभवी व्यक्ति कृष्ण तथा उनके दिव्य गुणों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह स्वाभाविक रूप से अन्य कार्यों को त्याग देता है और भगवान् की सेवा करने लगता है। उद्धव इसका प्रमाण देते हैं।

अहो बकी यं स्तन-काल-कूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥ ९८ ॥

अहो बकी यं स्तन-काल-कूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥ ९८ ॥

अहो—कितना अद्भुत है; **बकी**—पूतना, बकासुर की बहन; **यम्**—जिसे; **स्तन**—दोनों स्तनों पर; **काल-कूटम्**—भयंकर विष; **जिघांसया**—मारने की इच्छा के साथ; **अपाययत्**—बलपूर्वक पिलाया; **अपि**—यद्यपि; **असाध्वी**—कृष्ण के प्रति अत्यन्त द्वेषी; **लेभे**—प्राप्त की; **गतिम्**—गति; **धात्री**—माता की; **उचिताम्**—उचित; **ततः**—उनसे; **अन्यम्**—दूसरा; **कम्**—किसकी; **वा**—या; **दयालुम्**—महादयालु की; **शरणम्**—शरण; **व्रजेम**—लेगा।

अनुवाद

"'यह कैसा अद्भुत है कि बकासुर की बहन पूतना अपने स्तनों में घातक विष का लेप करके और स्तनपान कराकर कृष्ण को मारना चाहती थी। फिर भी भगवान् कृष्ण ने उसे अपनी माता के रूप में स्वीकार किया और इस तरह उसने कृष्ण की माता के योग्य गति प्राप्त की। तो मैं उन कृष्ण के अतिरिक्त और किसकी शरण ग्रहण करूँ, जो सर्वाधिक दयालु हैं?'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (३.२.२३) से लिया गया है।

शरणागतेर, अकिञ्चनेर——एक-ई लक्षण ।
तार मध्ये प्रवेशये 'आत्म-समर्पण' ॥ ९९ ॥

शरणागतेर, अकिञ्चनेर——एकइ लक्षण ।
तार मध्ये प्रवेशये 'आत्म-समर्पण' ॥ ९९ ॥

शरणागतेर—कृष्ण के प्रति पूर्ण रूप से शरणागत व्यक्ति के; **अकिञ्चनेर**—सभी भौतिक इच्छाओं से रहित व्यक्ति के; **एकइ लक्षण**—समान ही लक्षण हैं; **तार मध्ये**—उन सब में से; **प्रवेशये**—प्रवेश करता है; **आत्म-समर्पण**—पूर्ण शरणागति।

अनुवाद

"भक्त दो प्रकार के होते हैं—अकिंचन, जो पूर्णतया सन्तुष्ट और समस्त भौतिक कामनाओं से मुक्त होते हैं और वे जो भगवान् के चरणकमलों में पूर्णतया शरणागत होते हैं। उनके गुण एक-से होते हैं, किन्तु जो कृष्ण के चरणकमलों में शरणागत हैं, उनमें एक दिव्य गुण और पाया जाता है—वह है आत्मसमर्पण का गुण।

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।
आत्म-निक्षेप-कार्पण्ये षड्-विधा शरणागतिः ॥ १०० ॥

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।
आत्म-निक्षेप-कार्पण्ये षड्-विधा शरणागतिः ॥ १०० ॥

आनुकूल्यस्य—भगवान् की सेवा के लिए जो भी सहायक है उसे; **सङ्कल्पः**—स्वीकार करना; **प्रातिकूल्यस्य**—जो भगवत्सेवा में बाधा डालने वाली है; **वर्जनम्**—पूर्ण त्याग; **रक्षिष्यति**—वे रक्षा करेंगे; **इति**—ऐसा; **विश्वासः**—दृढ़ विश्वास; **गोप्तृत्वे**—संरक्षक की तरह जैसे पिता, पति, स्वामी या पालक; **वरणम्**—स्वीकार करना; **तथा**—साथ ही; **आत्म-निक्षेप**—पूर्ण समर्पण; **कार्पण्ये**—तथा विनम्रता; **षट्-विधा**—छः प्रकार की; **शरण-आगतिः**—समर्पण की प्रक्रिया।

अनुवाद

"'शरणागति के छह विभाग ये हैं—भक्ति के अनुकूल बातों को स्वीकार करना, प्रतिकूल बातों का बहिष्कार करना, कृष्ण द्वारा संरक्षण पर पूर्ण विश्वास होना, भगवान् को संरक्षक या स्वामी के रूप में स्वीकार करना, पूर्ण आत्मसमर्पण तथा दीनता।

तात्पर्य

पूर्ण शरणागत व्यक्ति में निम्नलिखित छः लक्षण पाये जाते हैं—(१) भक्त भगवान् की सेवा के अनुकूल हर बात को स्वीकार करता है। (२) उसे भगवान् की सेवा के प्रतिकूल हर बात का बहिष्कार करना चाहिए। यह भी त्याग कहलाता है। (३) भक्त को दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि कृष्ण उसकी पूरी

तरह से रक्षा करेंगे। उनके अतिरिक्त वास्तव में अन्य कोई सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता। इस तरह से आश्वस्त होना श्रद्धा कहलाता है। यह श्रद्धा उस निर्विशेषवादी की श्रद्धा से भिन्न है, जो जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटने के लिए ब्रह्मतेज में लीन होना चाहता है। भक्त तो सदैव भगवान् की सेवा करना चाहता है। इस तरह कृष्ण अपने भक्तों पर दयालु होते हैं और भक्ति के मार्ग पर आने वाली बाधाओं से उनकी रक्षा करते हैं। (४) भक्त को चाहिए कि कृष्ण को अपने परम पालक तथा स्वामी के रूप में स्वीकार करे। उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि उसकी रक्षा किसी देवता द्वारा की जा रही है। उसे कृष्ण को अपने एकमात्र रक्षक मानते हुए उन्हीं पर आश्रित रहना चाहिए। भक्त को यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि तीनों लोकों में कृष्ण के अतिरिक्त उसका अन्य रक्षक या पालक नहीं है। (५) आत्मसमर्पण का अर्थ है यह स्मरण रखना कि मनुष्य के कर्म तथा इच्छाएँ स्वतन्त्र नहीं हैं। भक्त पूर्णतया कृष्ण पर आश्रित होता है और जैसा कृष्ण चाहते हैं, उसी तरह वह कर्म करता है तथा सोचता है। (६) भक्त विनीत तथा दीन होता है।

भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं :

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥

"मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। सारे वेदों के द्वारा मुझे ही जाना जाता है। मैं ही वेदान्त का रचयिता हूँ और मैं ही वेदों का ज्ञाता हूँ।" हर एक के हृदय में स्थित रहकर कृष्ण जीव की स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न आचरण करते हैं। जीव की स्थिति यह है कि उसे या तो माया के संरक्षण में रहना होता है या कृष्ण के निजी संरक्षण के अन्तर्गत रहना होता है। जब जीव पूर्णतया शरणागत होता है, तब वह कृष्ण के प्रत्यक्ष संरक्षण में रहता है और कृष्ण उसे सारी बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति कर सके। किन्तु अभक्त माया के संरक्षण में होने के कारण कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को

अधिकाधिक भूलता जाता है। कभी-कभी पूछा जाता है कि कृष्ण किस तरह विस्मरण कराते हैं? कृष्ण अपने भक्त के भौतिक कार्यों को भुलवा देते हैं और माया के माध्यम द्वारा अभक्तों की भगवद्भक्ति को भुलवा देते हैं। यही *अपोहन* कहलाता है।

तवास्मीति वदन्वाचा तथैव मनसा विदन् ।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ॥ १०१ ॥

तवास्मीति वदन्वाचा तथैव मनसा विदन् ।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ॥ १०१ ॥

तव—आपका; **अस्मि**—मैं हूँ; **इति**—ऐसा; **वदन्**—कहकर; **वाचा**—वचनों द्वारा; **तथा**—इसलिये; **एव**—ही; **मनसा**—मन से; **विदन्**—जानकर; **तत्-स्थानम्**—उनके स्थान का; **आश्रितः**—आश्रय लिया हुआ; **तन्वा**—शरीर द्वारा; **मोदते**—वह आनन्दित होता है; **शरण-आगतः**—पूर्ण शरणागत।

अनुवाद

"'जिसका शरीर पूर्णतया समर्पित है, वह उस पवित्र स्थान की शरण लेता है, जहाँ कृष्ण ने उनकी लीलाएँ की थीं। वह भगवान् से प्रार्थना करता है, "हे प्रभु, मैं आपका हूँ।" वह इसे मन से जानकर आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है।'

तात्पर्य

अन्तिम दो श्लोक *हरिभक्ति-विलास* (११.४१७-४१८) में आये हैं।

শরণ লঞা করে কৃষ্ণে আত্ম-সমর্পণ ।
কৃষ্ণ তারে করে তৎকালে আত্ম-সম ॥ ১০২ ॥

শরণ লঞা করে কৃষ্ণে আত্ম-সমর্পণ ।
কৃষ্ণ তারে করে তৎকালে আত্ম-সম ॥ ১০২ ॥

শরণ লঞা—शरण लेकर; **করে**—करता है; **কৃষ্ণে**—कृष्ण को; **আত্ম-সমর্পণ**—पूर्ण समर्पण; **কৃষ্ণ**—भगवान् कृष्ण; **তারে**—उसे; **করে**—बना लेते हैं; **তৎ-কালে**—उसी समय; **আত্ম-সম**—अपने अन्तरंग पार्षदों में से एक।

अनुवाद

"जब इस तरह भक्त कृष्ण के चरणकमलों में पूरी तरह आत्मसमर्पण कर देता है, तो कृष्ण उसे अपने अन्तरंग पार्षदों में से एक के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

मर्त्यो यदा त्यक्त-समस्त-कर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्म-भूयाय च कल्पते वै ॥१०३॥

मर्त्यो यदा त्यक्त-समस्त-कर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्म-भूयाय च कल्पते वै ॥ १०३ ॥

मर्त्यः—जन्म और मृत्यु के चक्र में बद्ध जीव; **यदा**—जैसे ही; **त्यक्त**—त्यागकर; **समस्त**—सभी; **कर्मा**—सकाम कर्म; **निवेदित-आत्मा**—पूर्ण शरणागत जीव; **विचिकीर्षितः**—कार्य करने का इच्छुक; **मे**—मेरे द्वारा; **तदा**—उस समय; **अमृतत्वम्**—अमरता; **प्रतिपद्यमानः**—प्राप्त करके; **मया**—मेरे साथ; **आत्म-भूयाय**—समान (स्वभाव) प्रकृति वाला बनने के लिए; **च**—तथा; **कल्पते**—योग्य होता है; **वै**—अवश्य।

अनुवाद

"'जन्म तथा मृत्यु का शिकार बनने वाला जीव जब सारे भौतिक कार्यों को त्याग देता है, मेरे आदेश का पालन करने में अपना जीवन अर्पित कर देता है और मेरे आदेशों के अनुसार कर्म करता है, तो वह अमरत्व को प्राप्त करता है। इस तरह वह मेरे साथ प्रेम-रस का विनिमय करने से प्राप्त आध्यात्मिक आनन्द को भोगने के लिए उपयुक्त बन जाता है।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (११.२९.३४) का है। कृष्ण अपने सर्वाधिक विश्वासपात्र सेवक उद्धव को *सम्बन्ध, अभिधेय* तथा *प्रयोजन* के विषय में उपदेश दे रहे थे। ये विषय मनुष्य के पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से सम्बन्ध, उस

सम्बन्ध के अन्तर्गत कार्यकलाप तथा जीवन की पूर्णता के बारे में है। भगवान् ने उनसे अन्तरंग भक्तों के लक्षणों का भी वर्णन किया।

एबे साधन-भक्ति-लक्षण शुन, सनातन ।
याहा हैते पाइ कृष्ण-प्रेम-महा-धन ॥१०४॥

एबे साधन-भक्ति-लक्षण शुन, सनातन ।
याहा हैते पाइ कृष्ण-प्रेम-महा-धन ॥ १०४॥

एबे—अब; **साधन-भक्ति**—भक्तिमयी सेवा में साधना के नियमों के; **लक्षण**—लक्षण; **शुन**—कृपया सुनो; **सनातन**—मेरे प्रिय सनातन; **याहा हैते**—जिससे; **पाइ**—प्राप्त किया जा सकता है; **कृष्ण-प्रेम-महा-धन**—कृष्ण-प्रेम का सबसे अनमोल खजाना।

अनुवाद

"हे सनातन, अब कृपया भक्ति सम्पन्न करने के विधानों के विषय में सुनो। इस विधि से मनुष्य भगवत्प्रेम की सर्वोच्च पूर्णता प्राप्त कर सकता है, जो सर्वाधिक वांछित महाधन है।

कृति-साध्या भवेत्साध्य-भावा सा साधनाभिधा ।
नित्य-सिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ॥१०५॥

कृति-साध्या भवेत्साध्य-भावा सा साधनाभिधा ।
नित्य-सिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ॥ १०५॥

कृति-साध्या—जिसे इन्द्रियों द्वारा किया जाता है; **भवेत्**—हो; **साध्य-भावा**—जिसके द्वारा भगवत्प्रेम प्राप्त किया जाता है; **सा**—वह; **साधन-अभिधा**—साधना भक्ति कही जाती है; **नित्य-सिद्धस्य**—जो नित्य रूप से उपस्थित है; **भावस्य**—भगवत्प्रेम की; **प्राकट्यम्**—जागृति; **हृदि**—हृदय में; **साध्यता**—सामर्थ्य।

अनुवाद

"'जिस दिव्य भक्ति से कृष्ण-प्रेम प्राप्त किया जाता है, यदि उसे इन्द्रियों से सम्पन्न किया जाता है, तो वह साधन भक्ति कहलाती है। ऐसी भक्ति हर जीव के हृदय के भीतर निरन्तर स्थित रहती है। इस सनातन भक्ति का उदय ही साधन भक्ति द्वारा साध्य होने वाला फल है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२) में पाया जाता है। चूँकि सारे जीव भगवान् के सूक्ष्म अंश हैं, इसलिए उनमें पहले से ही भक्ति सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है। भक्ति का शुभारम्भ *श्रवणं-कीर्तनं* से होता है। जब मनुष्य सोता रहता है, तो उसे ध्वनि द्वारा जगाया जा सकता है। इसलिए हर बद्धजीव को शुद्ध वैष्णव के मुख से हरे कृष्ण मन्त्र सुनने का अवसर दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति इस तरह हरे कृष्ण मन्त्र को ध्वनित होते सुनता है, उसकी कृष्ण-चेतना जाग्रत हो जाती है। इस तरह धीरे-धीरे उसका मन निर्मल हो जाता है, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है (*चेतोदर्पणमार्जनम्*) मन के शुद्ध हो जाने पर इन्द्रियाँ भी शुद्ध हो जाती हैं। इस तरह से जाग्रत भक्त इन इन्द्रियों का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करने के बदले उन्हें भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में लगाता है। इस विधि द्वारा सुप्त कृष्ण-प्रेम को जाग्रत किया जा सकता है।

श्रवणादि-क्रिया—तार 'स्वरूप'-लक्षण ।
'तटस्थ'-लक्षणे उपजाय प्रेम-धन ॥ १०६ ॥

श्रवणादि-क्रिया—तार 'स्वरूप'-लक्षण ।
'तटस्थ'-लक्षणे उपजाय प्रेम-धन ॥ १०६ ॥

श्रवण-आदि-क्रिया—श्रवण, कीर्तन इत्यादि की प्रक्रिया; **तार**—उसका; **स्वरूप-लक्षण**—स्वाभाविक लक्षण; **तटस्थ-लक्षणे**—तटस्थ लक्षण; **उपजाय**—जगाता है; **प्रेम-धन**—भगवत्प्रेम।

अनुवाद

"श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि आध्यात्मिक कार्यकलाप भक्ति के स्वाभाविक लक्षण हैं। इसका तटस्थ लक्षण यह है कि इससे कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम उत्पन्न होता है।

नित्य-सिद्ध कृष्ण-प्रेम 'साध्य' कभु नय ।
श्रवणादि-शुद्ध-चित्ते करये उदय ॥ १०७ ॥

नित्य-सिद्ध कृष्ण-प्रेम 'साध्य' कभु नय ।
श्रवणादि-शुद्ध-चित्ते करये उदय ॥ १०७॥

नित्य-सिद्ध—नित्य रूप से उपस्थित; **कृष्ण-प्रेम**—कृष्ण-प्रेम; **साध्य**—प्राप्त करने योग्य; **कभु**—कभी भी; **नय**—नहीं; **श्रवण-आदि**—श्रवण आदि द्वारा; **शुद्ध**—शुद्ध; **चित्ते**—हृदय में; **करये उदय**—जाग जाता है।

अनुवाद

"कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम जीवों के हृदयों में नित्य स्थापित रहता है। यह ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे किसी अन्य स्त्रोत से प्राप्त किया जाए। जब श्रवण तथा कीर्तन से हृदय शुद्ध हो जाता है, तब यह प्रेम स्वाभाविक रूप से जाग्रत हो उठता है।

এই ত সাধন-ভক্তি—দুই ত' প্রকার ।
এক 'বৈধী ভক্তি', 'রাগানুগা-ভক্তি' আর ॥ ১০৮॥

এइ ত সাধন-ভক্তি—দুइ ত' প্রকার ।
এক 'বৈধী ভক্তি', 'রাগানুগা-ভক্তি' আর ॥ ১০৮॥

এइ ত—यही; **साधन-भक्ति**—साधन भक्ति; **दुइ त' प्रकार**—दो प्रकार की है; **एक**—एक; **वैधी भक्ति**—विधि नियमों से युक्त भक्ति साधना; **रागानुगा-भक्ति**—रागानुगा भक्ति; **आर**—तथा।

अनुवाद

"साधन भक्ति की दो विधियाँ हैं। एक है वैधी भक्ति तथा दूसरी रागानुगा भक्ति।

রাগ-হীন জন ভজে শাস্ত্রের আজ্ঞায় ।
'বৈধী ভক্তি' বলি' তারে সর্ব-শাস্ত্রে গায় ॥ ১০৯॥

রাগ-হীন জন ভজে শাস্ত্রের আজ্ঞায় ।
'বৈধী ভক্তি' বলি' তারে সর্ব-শাস্ত্রে গায় ॥ ১০৯॥

राग-हीन—कृष्ण में स्वाभाविक आसक्ति से रहित; **जन**—लोग; **भजे**—भगवत्सेवा करते हैं; **शास्त्रेर आज्ञाय**—शास्त्रों में दिये गये सिद्धान्तों तथा निर्देशों के अनुसार; **वैधी भक्ति**—वैधी भक्ति; **बलि'**—कहकर; **तारे**—उसका; **सर्व-शास्त्रे**—सभी शास्त्र; **गाय**—वर्णन करते हैं।

अनुवाद

"जिन्हें रागानुगा भक्ति प्राप्त नहीं हुई, वे शास्त्रों में वर्णित विधानों के अनुसार प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में भक्ति करते हैं। शास्त्रों के अनुसार ऐसी भक्ति वैधी भक्ति कहलाती है।

तात्पर्य

प्रारम्भ में मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से श्रवण करना आवश्यक है। भक्ति में प्रगति करने के लिए यह अनुकूल है। इस विधि के अनुसार भक्त गुरु के निर्देशन में सुनता है, कीर्तन करता है, स्मरण करता है और अर्चाविग्रह-पूजा करता है। ये भक्ति के अनिवार्य प्रारम्भिक कृत्य हैं। भक्ति किसी भौतिक उद्देश्य से नहीं की जानी चाहिए। मनुष्य को परम सत्य में तदाकार होने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। उसे प्रेमवश ही ऐसी सेवा करनी चाहिए। *अहैतुकी, अप्रतिहता।* भक्ति को बिना किसी स्वार्थ के होना चाहिए। तब भौतिक परिस्थितियाँ इसे रोक नहीं सकतीं। धीरे-धीरे मनुष्य स्वत:स्फूर्त रागानुगा भक्ति-पद को प्राप्त कर सकता है। बच्चे को शिक्षा प्राप्त करने के लिए बलपूर्वक पाठशाला को भेजा जाता है; किन्तु उम्र बढ़ने पर जब उसे शिक्षा का थोड़ा स्वाद मिलने लगता है, तो वह स्वत: पढ़ने लगता है और विद्वान बन जाता है। कोई किसी को बलपूर्वक विद्वान नहीं बना सकता, किन्तु कभी-कभी प्रारम्भ में बल-प्रयोग किया जाता है। बालक को अपने शिक्षक के आदेशों के अनुसार पढ़ने तथा लिखने के लिए बलपूर्वक पाठशाला भेजा जाता है। वैधी भक्ति तथा रागानुगा भक्ति में यही अन्तर है। हर एक के हृदय में कृष्ण के लिए सुप्त प्रेम रहता है, जिसे वैधी भक्ति द्वारा जाग्रत भर करना होता है। मनुष्य को टंकण पुस्तिका में दिये गये नियमों के अनुसार टंकन-मशीन (टाइप राइटर) को चलाना होता है। उसे कुँजी पटल पर अपनी उँगलियाँ एक विधि के अनुसार रखकर अभ्यास करना पड़ता है, किन्तु जब वह दक्ष हो जाता है, तो कुंजी-पटल को देखे बिना ही तेजी से तथा त्रुटि-रहित ढंग से टंकण कर सकता है। इसी तरह मनुष्य को गुरु द्वारा नियमबद्ध किये गये भक्ति-विधानों का पालन करना होता है; तब वह रागानुगा भक्ति प्राप्त कर सकता है। यह प्रेम हर एक के हृदय में पहले से ही विद्यमान है (*नित्यसिद्ध कृष्ण-प्रेम*)।

रागानुगा भक्ति कृत्रिम नहीं है। मात्र वैधी भक्ति करते रहने पर रागानुगा भक्ति-पद तक पहुँचा जा सकता है। इस तरह श्रवण तथा कीर्तन का अभ्यास करना आवश्यक है तथा मन्दिर की सफाई, अपनी सफाई, प्रातःकाल उठना, मंगल आरती करना इत्यादि विधान करने आवश्यक हैं। यदि वह प्रारम्भ में रागानुगा भक्ति नहीं कर पाता, तो उसे गुरु के आदेशानुसार वैधी भक्ति ग्रहण करनी चाहिए। इन विधि-विधानों का पालन करना ही वैधी भक्ति कहलाता है।

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान्हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ ११० ॥

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान्हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ ११० ॥

तस्मात्—इस कारण से; **भारत**—हे भरतवंशी; **सर्व-आत्मा**—सबके हृदय में स्थित, सर्वव्यापी परमात्मा; **भगवान्**—परम भगवान्; **हरिः**—भगवान् हरि, जो अपने भक्तों के बद्ध जीवन के सभी कष्टों को हर लेते हैं; **ईश्वरः**—परम नियन्ता; **श्रोतव्यः**—सुनने योग्य (प्रामाणिक अधिकारियों से); **कीर्तितव्यः**—गुणगान करने योग्य; **च**—तथा; **स्मर्तव्यः**—स्मरण करने योग्य; **च**—तथा; **इच्छता**—जो व्यक्ति चाहता है; **अभयम्**—भौतिक जीवन के भय से मुक्ति।

अनुवाद

'"हे भरतवंशी, महाराज परीक्षित! जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मनुष्य के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, जो परम नियन्ता हैं और जो सारे जीवों के कष्टों को सदा दूर करने वाले हैं, उनका प्रामाणिक स्त्रोत से श्रवण, उनकी महिमा का गायन तथा उनका स्मरण उन लोगों द्वारा सदैव किया जाना चाहिए, जो निर्भय बनना चाहते हैं।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (२.१.५) से है। श्रवण-विधि द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना हर एक का कर्तव्य है। यह क्रिया *श्रोतव्यः* कहलाती है। यदि किसी ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का ठीक से श्रवण किया है, तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह भगवान् की महिमा का गायन करे और उनके यश का प्रचार करे। यह *कीर्तितव्यः* कहलाता है। जब भगवान् का

श्रवण और महिमा-गायन किया जाता है, तो स्वाभाविक है कि उनका चिन्तन भी होगा। यह *स्मर्तव्यः* कहलाता है। यदि कोई वास्तव में निर्भय बनना चाहता है, तो उसे यह सब करना चाहिए।

मुख-बाहूरु-पादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ १११ ॥

मुख-बाहूरु-पादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ १११ ॥

मुख—मुख; **बाहु**—बाजू; **ऊरु**—कमर; **पादेभ्यः**—पाँवों से; **पुरुषस्य**—परम पुरुष के; **आश्रमैः**—विभिन्न आध्यात्मिक विभाग; **सह**—साथ; **चत्वारः**—चार; **जज्ञिरे**—प्रकट हुए; **वर्णाः**—सामाजिक विभाग; **गुणैः**—विशिष्ट गुणों के साथ; **विप्र-आदयः**—ब्राह्मण आदि; **पृथक्**—अलग से।

अनुवाद

"'ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण-वर्ण प्रकट हुए। इसी तरह उनकी बाहुओं से क्षत्रिय उत्पन्न हुए, उनकी कमर से वैश्य प्रकट हुए और उनके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। ये चारों वर्ण तथा उनके आध्यात्मिक आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) मिलकर मानव-समाज को पूर्ण बनाते हैं।

तात्पर्य

यह श्लोक तथा इसका अगला श्लोक *श्रीमद्भागवत* (११.५.२-३) से है।

य एषां पूरुषं साक्षादात्म-प्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ ११२ ॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्म-प्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ ११२ ॥

ये—जो; **एषाम्**—इन वर्ण तथा आश्रम के विभागों के; **पुरुषम्**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; **साक्षात्**—साक्षात्; **आत्म-प्रभवम्**—सबके स्रोत को; **ईश्वरम्**—परम नियन्ता को; **न**—नहीं;

भजन्ति—पूजते; **अवजानन्ति**—या जो उपेक्षा करते हैं; **स्थानात्**—अपनी स्थिति से; **भ्रष्टाः**—भ्रष्ट होकर; **पतन्ति**—गिरते हैं; **अधः**—नारकीय स्थितियों में।

अनुवाद

"'यदि कोई व्यक्ति चारों वर्णों तथा आश्रमों में केवल औपचारिक स्थिति बनाये रखता है, किन्तु परम भगवान् विष्णु की पूजा नहीं करता, तो वह अपने गर्वित स्थान से गिरकर नरक में जा पहुँचता है।'

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधि-निषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥ ११३ ॥

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधि-निषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥ ११३ ॥

स्मर्तव्यः—स्मरण करना चाहिए; **सततम्**—सदैव; **विष्णुः**—भगवान् विष्णु; **विस्मर्तव्यः**—भूलना; **न**—नहीं; **जातुचित्**—किसी भी समय; **सर्वे**—सभी; **विधि-निषेधाः**—शास्त्रों में वर्णित या गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि-निषेध; **स्युः**—होने चाहिए; **एतयोः**—इन दो सिद्धान्तो के (सदैव कृष्ण या विष्णु का स्मरण करना तथा उन्हें कभी नहीं भूलना); **एव**—निश्चित रूप से; **किङ्कराः**—दास।

अनुवाद

"'कृष्ण ही भगवान् विष्णु के उद्गम हैं। उनका सतत स्मरण करना चाहिए और किसी भी समय उन्हें भूलना नहीं चाहिए। शास्त्रों में उल्लिखित सारे नियम तथा निषेध इन्हीं दोनों नियमों के अधीन होने चाहिए।'

तात्पर्य

यह श्लोक *पद्म-पुराण* से उद्धृत है। शास्त्रों में अनेक विधान और गुरु द्वारा दिये गये अनेक निर्देश हैं। ये सभी नियम मूल सिद्धान्त—कृष्ण का सदैव स्मरण तथा उनको न भूलना—के अधीन हैं। ऐसा तभी सम्भव है, जब कोई हरे कृष्ण मन्त्र का जप करता है। इसलिए मनुष्य को सदैव चौबीसों घण्टे हरे कृष्ण महामन्त्र का दृढ़ता से जप करना चाहिए। भले ही उसके पास करने के लिए गुरु द्वारा निर्दिष्ट अन्य कार्य हों, किन्तु सर्वप्रथम उसे जपमाला में गुरु द्वारा निर्दिष्ट जप करने चाहिए। हमने अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में नवदीक्षित

के लिए कम से कम सोलह माला का जप करने की संस्तुति की है। यह सोलह माला का जप नितान्त आवश्यक है, यदि कोई कृष्ण का स्मरण करना चाहता है और उन्हें भुलाना नहीं चाहता। सारे विधानों में गुरु द्वारा दिया गया सोलह माला जप करने का आदेश अत्यावश्यक है।

कोई चाहे पुस्तक बेचे, या आजीवन सदस्य बनाये या कोई अन्य सेवा-कार्य करे—इनमें से कोई भी कार्य सामान्य नहीं है। ये कार्य कृष्ण का स्मरण करने में प्रेरक बनते हैं। जब कोई संकीर्तन-टोली में जाता है या पुस्तकें बेचता है, तो उसे सहज ही स्मरण होता है कि वह कृष्ण की पुस्तकें बेचने जा रहा है। इस तरह वह कृष्ण का स्मरण करता है। जब कोई सदस्य बनाने जाता है, तो वह कृष्ण के विषय में बातें करता है और इस तरह कृष्ण का स्मरण करता है। *स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।* निष्कर्ष यही है कि मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे वह सदैव कृष्ण का स्मरण करे। वह ऐसे कार्य करने से दूर रहे, जो कृष्ण को भुलाने वाले हों। कृष्णभावनामृत के लिए ये दो सिद्धान्त आधारभूत हैं।

বিবিধাঙ্গ সাধন-ভক্তির বহুত বিস্তার ।
সঙ্ক্ষেপে কহিয়ে কিছু সাধনাঙ্গ-সার ॥ ১১৪ ॥

विविधाङ्ग साधन-भक्तिर बहुत विस्तार ।
सङ्क्षेपे कहिये किछु साधनाङ्ग-सार ॥ ११४ ॥

विविध-अङ्ग—अनेक अंग; **साधन-भक्तिर**—साधन भक्ति के; **बहुत**—अनेक; **विस्तार**—विस्तार; **सङ्क्षेपे**—संक्षेप में; **कहिये**—मैं कहूँगा; **किछु**—कुछ; **साधन-अङ्ग-सार**—साधन भक्ति के आवश्यक अंग।

अनुवाद

"मैं भक्ति के विविध साधनांगों के विषय में कुछ कहूँगा, जिनका विस्तार अनेक प्रकार से हुआ है। मैं मुख्य साधनांगों के विषय में संक्षेप में कहना चाहता हूँ।

গুরু-পাদাশ্রয়, দীক্ষা, গুরুর সেবন ।
সদ্ধর্ম-শিক্ষা-পৃচ্ছা, সাধু-মার্গানুগমন ॥ ১১৫ ॥

गुरु-पादाश्रय, दीक्षा, गुरुर सेवन ।
सद्धर्म-शिक्षा-पृच्छा, साधु-मार्गानुगमन ॥ ११५ ॥

गुरु-पाद-आश्रय—एक प्रामाणिक गुरु के चरणकमलों की शरण; **दीक्षा**—आध्यात्मिक गुरु द्वारा दीक्षा; **गुरुर सेवन**—सद्गुरु की सेवा; **सत्-धर्म-शिक्षा**—भगवत्सेवा की दिव्य प्रक्रिया के उपदेश; **पृच्छा**—जिज्ञासा; **साधु-मार्ग**—भगवत्सेवा का मार्ग; **अनुगमन**—दृढ़ता से पालन करना।

अनुवाद

"साधन भक्ति के मार्ग में निम्नलिखित अंगों का पालन करना चाहिए—(१) एक प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। (२) उसी से दीक्षा ली जाए। (३) उसी की सेवा की जाए। (४) गुरु से शिक्षा ग्रहण की जाए और भक्ति की शिक्षा के लिए प्रश्न किये जाएँ। (५) पूर्ववर्ती आचार्यों के पदचिह्नों का अनुगमन किया जाए तथा गुरु द्वारा दिये गये निर्देशों का पालन किया जाए।

कृष्ण-प्रीत्यै भोग-त्याग, कृष्ण-तीर्थे वास ।
यावन्निर्वाह-प्रतिग्रह, एकादश्युपवास ॥ ११६ ॥

कृष्ण-प्रीत्ये भोग-त्याग, कृष्ण-तीर्थे वास ।
यावन्निर्वाह-प्रतिग्रह, एकादश्युपवास ॥ ११६ ॥

कृष्ण-प्रीत्ये—कृष्ण की प्रसन्नता के लिए; **भोग-त्याग**—किसी वस्तु को स्वीकार करना तथा त्यागना; **कृष्ण-तीर्थे वास**—कृष्ण के धाम में निवास करना; **यावत्-निर्वाह**—शरीर तथा आत्मा को एक साथ रखने के लिए जितना आवश्यक है; **प्रतिग्रह**—स्वीकार करना; **एकादशी-उपवास**—एकादशी का व्रत।

अनुवाद

"अगले अंग इस प्रकार हैं—(६) कृष्ण की तुष्टि के लिए सर्वस्व परित्याग करने के लिए प्रस्तुत रहना तथा कृष्ण की तुष्टि के लिए ही प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करना। (७) जहाँ कृष्ण हों—यथा वृन्दावन, मथुरा या कृष्ण मन्दिर में—वहीं रहना। (८) जीविका-निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतना ही धन कमाना (९) एकादशी के दिन उपवास रखना।

धात्र्यश्वत्थ-गो-विप्र-वैष्णव-पूजन ।
सेवा-नामापराधादि दूरे विसर्जन ॥ ११७॥

धात्र्यश्वत्थ-गो-विप्र-वैष्णव-पूजन ।
सेवा-नामापराधादि दूरे विसर्जन ॥ ११७॥

धात्री—एक प्रकार का वृक्ष; **अश्वत्थ**—बरगद का वृक्ष; **गो**—गायों की; **विप्र**—ब्राह्मणों की; **वैष्णव**—भगवान् विष्णु के भक्तों की; **पूजन**—पूजा; **सेवा**—सेवा भाव में; **नाम**—पवित्र नाम का जप; **अपराध-आदि**—अपराध; **दूरे**—दूर; **विसर्जन**—त्याग दें।

अनुवाद

"(१०) मनुष्य को चाहिए कि वह धात्री वृक्षों, बरगद वृक्षों, गौवों, ब्राह्मणों तथा भगवान् विष्णु के भक्तों की पूजा करे। (११) उसे भक्ति तथा पवित्र नाम के विरुद्ध अपराधों से बचना चाहिए।

तात्पर्य

धात्री वृक्ष, बरगद वृक्ष, गाय, ब्राह्मण तथा विष्णु-भक्तों की पूजा करने तक भक्ति के प्रारम्भ में ये दस बातें हैं। ग्यारहवीं बात है भक्ति करने तथा पवित्र नामों का जप करते समय अपराधों से बचना।

अवैष्णव-सङ्ग-त्याग, बहु-शिष्य ना करिब ।
बहु-ग्रन्थ-कलाभ्यास-व्याख्यान वर्जिब ॥ ११८॥

अवैष्णव-सङ्ग-त्याग, बहु-शिष्य ना करिब ।
बहु-ग्रन्थ-कलाभ्यास-व्याख्यान वर्जिब ॥ ११८॥

अवैष्णव—जो भगवान् का भक्त नहीं है उसका; **सङ्ग**—संग; **त्याग**—त्यागना; **बहु-शिष्य**—असंख्य शिष्य; **ना करिब**—स्वीकार नहीं करने चाहिए; **बहु-ग्रन्थ**—अनेक प्रकार के शास्त्रों के; **कला-अभ्यास**—एक भाग का अध्ययन; **व्याख्यान**—तथा वर्णन; **वर्जिब**—हमें त्याग देना चाहिए।

अनुवाद

"बारहवाँ अंग है अभक्तों की संगति त्याग देना। (१३) मनुष्य को असंख्य शिष्य नहीं बनाने चाहिए। (१४) मात्र प्रमाण देने तथा टीका करने के उद्देश्य से अनेक शास्त्रों का अधूरा अध्ययन नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य

जो प्रचारक नहीं है, उसके लिए अनेक शिष्य बनाना अत्यन्त जोखिम-भरा है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार प्रचारक को श्री चैतन्य महाप्रभु-सम्प्रदाय का विस्तार करने के लिए अनेक शिष्य बनाने पड़ते हैं। यह अत्यन्त जोखिम वाला है, क्योंकि कोई गुरु किसी शिष्य को स्वीकार करता है, तो वह स्वाभाविक रूप से शिष्य के पापमय कार्यों तथा फलों को भी स्वीकार करता है। अत: यदि वह शक्तिशाली नहीं है, तो वह इसके अपने शिष्यों के सारे पापों के फलों को आत्मसात् नहीं कर सकता और उसे परिणाम भोगने पड़ते हैं, इसलिए अनेक शिष्य बनाना मना है।

शास्त्रों का उदाहरण देकर अपने आपको एक महान् विद्वान के रूप में प्रदर्शित करने के लिए व्यक्ति को किसी पुस्तक का आंशिक अध्ययन नहीं करना चाहिए। इसलिए हमने अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, चैतन्य-चरितामृत* तथा *भक्तिरसामृतसिन्धु* जैसे वैदिक ग्रन्थों के ही अध्ययन तक शास्त्र-अध्ययन को सीमित कर रखा है। प्रचार-कार्य के लिए ये चार ग्रन्थ पर्याप्त हैं। दर्शन को समझने तथा सारे विश्व में प्रचार-कार्य करने के लिए ये पर्याप्त हैं। जो जिस पुस्तक को पढ़े, उसे वह पूरी तरह से पढ़े। यही सिद्धान्त है। कुछ ही पुस्तकों का गहन अध्ययन करके दर्शन को समझा जा सकता है।

हानि-लाभे सम, शोकादिर वश ना ह-इब ।
अन्य-देव, अन्य-शास्त्र निन्दा ना करिब ॥ ११९॥

हानि-लाभे सम, शोकादिर वश ना हइब ।
अन्य-देव, अन्य-शास्त्र निन्दा ना करिब ॥ ११९॥

हानि—हानि में; **लाभे**—लाभ में; **सम**—समान; **शोक-आदिर**—शोक आदि के; **वश**—वश में; **ना हइब**—हमें नहीं रहना चाहिए; **अन्य-देव**—दूसरे देवताओं की; **अन्य-शास्त्र**—दूसरे शास्त्रों की; **निन्दा**—निन्दा; **ना करिब**—हमें नहीं करनी चाहिए।

अनुवाद

"(१५) भक्त को चाहिए कि वह हानि तथा लाभ को समान माने।

(१६) भक्त को शोक से अभिभूत नहीं होना चाहिए। (१७) भक्त को न तो देवताओं की पूजा करनी चाहिए, न ही उनका अनादर करना चाहिए। इसी तरह भक्त को चाहिए कि वह न तो अन्य शास्त्रों का अध्ययन करे, न उनकी आलोचना करे।

विष्णु-वैष्णव-निन्दा, ग्राम्य-वार्ता ना शुनिब ।
प्राणि-मात्रे मनो-वाक्ये उद्वेग ना दिब ॥ १२० ॥

विष्णु-वैष्णव-निन्दा, ग्राम्य-वार्ता ना शुनिब ।
प्राणि-मात्रे मनो-वाक्ये उद्वेग ना दिब ॥ १२० ॥

विष्णु-वैष्णव-निन्दा—भगवान् विष्णु या उनके भक्त की निन्दा; **ग्राम्य-वार्ता**—साधारण बातें; **ना शुनिब**—हमें नहीं सुननी चाहिए; **प्राणि-मात्रे**—सभी जीवों को; **मनः-वाक्ये**—मन या वचनों द्वारा; **उद्वेग**—परेशानी; **ना दिब**—हमें नहीं देनी चाहिए।

अनुवाद

"(१८) भक्त को भगवान् विष्णु या उनके भक्तों की निन्दा कभी नहीं सुननी चाहिए। (१९) भक्त को समाचार-पत्र अथवा स्त्री-पुरुषों की प्रेम-कथाओं वाली पुस्तकें या इन्द्रियों को अच्छे लगने वाले विषयों को पढ़ने या सुनने से बचना चाहिए। (२०) भक्त को चाहिए कि मन या वचन से किसी जीव को न सताये, भले ही वह कितना ही तुच्छ क्यों न हो।

तात्पर्य

प्रथम दस अंग करणीय हैं और अगले दस अंग निषेधात्मक हैं। इस तरह प्रथम दस अंग प्रत्यक्ष कर्म हैं, तो अगले दस अंग अप्रत्यक्ष कर्म हैं।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, वन्दन ।
परिचर्या, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन ॥ १२१ ॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, वन्दन ।
परिचर्या, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन ॥ १२१ ॥

श्रवण—सुनना; **कीर्तन**—कीर्तन करना; **स्मरण**—स्मरण करना; **पूजन**—पूजा करना;

वन्दन—प्रार्थना करना; **परिचर्य्या**—सेवा करना; **दास्य**—दासभाव स्वीकार करना; **सख्य**—सखाभाव; **आत्म-निवेदन**—सम्पूर्ण रूप से समर्पण करना।

अनुवाद

"भक्ति में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए करणीय कर्म इस प्रकार हैं—(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पूजन, (५) वन्दन, (६) सेवा, (७) दास्य-भाव को स्वीकार करना, (८) मित्र बनना तथा (९) पूर्णतया समर्पण करना।

अग्रे नृत्य, गीत, विज्ञप्ति, दण्डवन्नति ।
अभ्युत्थान, अनुव्रज्या, तीर्थ-गृहे गति ॥१२२॥

अग्रे नृत्य, गीत, विज्ञप्ति, दण्डवन्नति ।
अभ्युत्थान, अनुव्रज्या, तीर्थ-गृहे गति ॥ १२२ ॥

अग्रे नृत्य—श्रीविग्रह के समान नाचना; **गीत**—गीत गाना; **विज्ञप्ति**—मनोभाव प्रकट करना; **दण्डवत्-नति**—प्रणाम करना; **अभ्युत्थान**—खड़े हो जाना; **अनुव्रज्या**—अनुसरण करना; **तीर्थ-गृहे गति**—मन्दिरों तथा तीर्थस्थानों में जाना।

अनुवाद

"भक्त को चाहिए कि वह (१०) अर्चाविग्रह के समक्ष नृत्य करे, (११) उनके समक्ष गाये, (१२) उनसे मन की बात कहे, (१३) उनको नमस्कार करे, (१४) उनके तथा गुरु के समक्ष खड़ा होकर सम्मान जताये, (१५) उनका अथवा गुरु का अनुगमन करे तथा (१६) विभिन्न तीर्थस्थानों में जाये या मन्दिर में अर्चाविग्रह का दर्शन करने जाये।

परिक्रमा, स्तव-पाठ, जप, सङ्कीर्तन ।
धूप-माल्य-गन्ध-महाप्रसाद-भोजन ॥१२३॥

परिक्रमा, स्तव-पाठ, जप, सङ्कीर्तन ।
धूप-माल्य-गन्ध-महाप्रसाद-भोजन ॥ १२३ ॥

परिक्रमा—परिक्रमा करना; **स्तव-पाठ**—विभिन्न प्रार्थनाएँ करना; **जप**—मन्द स्वर में जप करना; **सङ्कीर्तन**—समूह में कीर्तन करना; **धूप**—अगरबत्ती; **माल्य**—फूलों की मालाएँ;

गन्ध—सुगन्ध; **महा-प्रसाद**—विष्णु को अर्पित भोजन के शेष; **भोजन**—खाना या आस्वादन करना।

अनुवाद

"भक्त को चाहिए कि वह (१७) मन्दिर की परिक्रमा करे, (१८) स्तव-पाठ करे, (१९) मन्द स्वर में जप करे, (२०) सामूहिक कीर्तन करे, (२१) अर्चाविग्रह पर चढ़ी धूप तथा फूलों की माला को सूँघे तथा (२२) अर्चाविग्रह पर चढ़ाये गये भोजन का शेष ग्रहण करे।

आरात्रिक-महोत्सव-श्रीमूर्ति-दर्शन ।
निज-प्रिय-दान, ध्यान, तदीय-सेवन ॥ १२४॥

आरात्रिक-महोत्सव-श्रीमूर्ति-दर्शन ।
निज-प्रिय-दान, ध्यान, तदीय-सेवन ॥ १२४॥

आरात्रिक—आरती; **महोत्सव**—उत्सव; **श्रीमूर्ति-दर्शन**—श्रीविग्रह के दर्शन करना; **निज-प्रिय-दान**—जो स्वयं को अत्यधिक प्रिय है, वह भगवान् को अर्पित करना; **ध्यान**—ध्यान करना; **तदीय-सेवन**—भगवान् के निजजनों (सम्बन्धित वस्तुओं) की सेवा करना।

अनुवाद

"उसे चाहिए कि (२३) आरती तथा उत्सवों में सम्मिलित हो, (२४) अर्चाविग्रह का दर्शन करे, (२५) अपनी प्रिय वस्तु अर्चाविग्रह पर चढ़ाये, (२६) अर्चाविग्रह का ध्यान करे तथा (२७-३०) भगवान् से सम्बन्धित लोगों की सेवा करे।

'तदीय'—तुलसी, वैष्णव, मथुरा, भागवत ।
एइ चारिर सेवा हय कृष्णेर अभिमत ॥ १२५॥

'तदीय'—तुलसी, वैष्णव, मथुरा, भागवत ।
एइ चारिर सेवा हय कृष्णेर अभिमत ॥ १२५॥

तदीय—भगवान् से सम्बन्धित; **तुलसी**—तुलसी-पत्र; **वैष्णव**—भक्तजन; **मथुरा**—कृष्ण का जन्म स्थान; **भागवत**—*श्रीमद्भागवत;* **एइ चारिर**—इन चारों की; **सेवा**—सेवा; **हय**—है; **कृष्णेर अभिमत**—कृष्ण की इच्छा।

अनुवाद

"*तदीय* का अर्थ है, तुलसी-दल, कृष्ण के भक्त, कृष्ण का जन्मस्थान (मथुरा) तथा वैदिक ग्रन्थ श्रीमद्भागवत। कृष्ण यह देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं कि उनका भक्त तुलसी, वैष्णव, मथुरा तथा भागवत की सेवा करे।

तात्पर्य

छब्बीसवाँ अंग (ध्यान) के बाद सत्ताइसवाँ नम्बर तुलसी की सेवा, अट्ठाइसवाँ वैष्णव की सेवा, उन्तीसवाँ कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा में वास तथा तीसवाँ नम्बर *श्रीमद्भागवत* का नियमित अध्ययन करना है।

কৃষ্ণার্থে অখিল-চেষ্টা, তৎকৃপাবলোকন ।
জন্ম-দিনাদি-মহোৎসব লঞা ভক্ত-গণ ॥ ১২৬॥

कृष्णार्थे अखिल-चेष्टा, तत्कृपावलोकन ।
जन्म-दिनादि-महोत्सव लञा भक्त-गण ॥ १२६॥

कृष्ण-अर्थे—कृष्ण के लिए; **अखिल-चेष्टा**—सभी कार्य; **तत्-कृपा-अवलोकन**—उनकी कृपा की कामना करते हुए; **जन्म-दिन-आदि**—जन्मदिन आदि; **महोत्सव**—उत्सव; **लञा भक्त-गण**—भक्तों के संग में।

अनुवाद

"(३१) भक्त को चाहिए कि वह कृष्ण के लिए सारी चेष्टाएँ करे। (३२) उनकी कृपा के लिए लालायित रहे। (३३) भक्तों के साथ मिलकर विभिन्न उत्सवों में—यथा कृष्ण जन्माष्टमी या रामचन्द्र के जन्मोत्सव में भाग ले।

সর্বথা শরণাপত্তি, কার্তিকাদি-ব্রত ।
'চতুঃ-ষষ্টি অঙ্গ' এই পরম-মহত্ত্ব ॥ ১২৭॥

सर्वथा शरणापत्ति, कार्तिकादि-व्रत ।
'चतुः-षष्टि अङ्ग' एइ परम-महत्त्व ॥ १२७॥

सर्वथा—सभी तरह से; **शरण-आपत्ति**—समर्पण; **कार्तिक-आदि-व्रत**—कार्तिक

मास में विशेष व्रत करना; **चतुः-षष्टि अङ्ग**—चौंसठ अंग; **एइ**—ये; **परम-महत्त्व**—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण।

अनुवाद

"(३४) भक्त को चाहिए कि सभी प्रकार से कृष्ण की शरण में जाये। (३५) कार्तिक व्रत जैसे विशेष व्रत रखे। भक्ति के चौंसठ कार्यों में से ये कुछ महत्त्वपूर्ण बातें हैं।

साधु-सङ्ग, नाम-कीर्तन, भागवत-श्रवण ।
मथुरा-वास, श्री-मूर्तिर श्रद्धाय सेवन ॥ १२८॥

साधु-सङ्ग, नाम-कीर्तन, भागवत-श्रवण ।
मथुरा-वास, श्री-मूर्तिर श्रद्धाय सेवन ॥ १२८॥

साधु-सङ्ग—भक्तों का संग; **नाम-कीर्तन**—पवित्र नाम का कीर्तन; **भागवत-श्रवण**—*श्रीमद्भागवत* सुनना; **मथुरा-वास**—मथुरा में रहना; **श्री-मूर्तिर श्रद्धाय सेवन**—श्रद्धापूर्वक श्रीविग्रह की उपासना करना।

अनुवाद

"मनुष्य को चाहिए कि वह भक्तों की संगति करे, भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे, श्रीमद्भागवत सुने, मथुरा में वास करे तथा श्रद्धा-सम्मानपूर्वक अर्चाविग्रह की पूजा करे।

सकल-साधन-श्रेष्ठ एइ पञ्च अङ्ग ।
कृष्ण-प्रेम जन्माय एइ पाँचेर अल्प सङ्ग ॥ १२९॥

सकल-साधन-श्रेष्ठ एइ पञ्च अङ्ग ।
कृष्ण-प्रेम जन्माय एइ पाँचेर अल्प सङ्ग ॥ १२९॥

सकल-साधन—भगवत्सेवा करने के सभी साधनों में से; **श्रेष्ठ**—सर्वश्रेष्ठ; **एइ पञ्च अङ्ग**—ये पाँच अँग; **कृष्ण-प्रेम**—कृष्ण के प्रति प्रेम; **जन्माय**—जगाता है; **एइ**—इन; **पाँचेर**—पाँचों का; **अल्प सङ्ग**—थोड़ा सा भी संग या अनुष्ठान।

अनुवाद

"भक्ति के ये पाँच अंग सर्व अंगों में श्रेष्ठ हैं। यदि इन पाँचों को थोड़ा सा भी सम्पन्न किया जाए, तो कृष्ण-प्रेम जाग्रत होता है।

तात्पर्य

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने इंगित किया है कि कार्तिक मास में विशिष्ट व्रत रखने तक पैंतीस बातें हैं। इन पैंतीस में चार अंग और जोड़ दिये जाते हैं। ये हैं—शरीर के विभिन्न अंगों में तिलक लगाना, सारे शरीर में भगवान् के नाम लिखना, अर्चाविग्रह की मालाएँ स्वीकार करना तथा चरणामृत लेना। कविराज गोस्वामी इन चारों अंगों को पहले से ही *अर्चन* अर्थात् अर्चाविग्रह की पूजा में निहित मानते हैं। यद्यपि ये अंग यहाँ उल्लिखित नहीं हैं, किन्तु इन्हें पिछले ३५ अंगों में जोड़ देना चाहिए। इस तरह कुल संख्या ३९ हो जाती है। इनमें ५ अंग और जोड़ दिये जाने चाहिए—भक्तों का संग, हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन, *श्रीमद्भागवत* का नियमित पाठ, भगवान् कृष्ण के जन्मस्थान मथुरा में निवास करना तथा अत्यन्त श्रद्धा एवं सम्मानपूर्वक अर्चाविग्रह का पूजन करना। इस तरह कुल ४४ अंग हो जाते हैं। यदि हम इनमें पिछले २० अंग जोड़ दें, तो कुल संख्या ६४ हो जाती हैं। उपर्युक्त पाँच अंगों की पुनरावृत्ति हो जाती है। *भक्तिरसामृतसिन्धु* में श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं :

अङ्गानं पञ्चकस्यास्य पूर्वविलिखितस्य च।
निखिलश्रैष्ठ्यबोधाय पुनरप्यत्र शंसनम्॥

"इन अंगों (भक्त-संग, नाम-कीर्तन आदि) की महिमा का गायन भक्ति की इन पाँच विधियों की पूर्ण श्रेष्ठता को बताने के लिए किया जाता है।

भक्ति के इन ६४ अंग में शरीर, मन तथा इन्द्रियों के सारे कार्यकलाप निहित हैं। इस तरह ये ६४ अंग किसी को भी भक्ति में सभी प्रकार से लगाने वाले हैं।

श्रद्धा विशेषतः प्रीतिः श्री-मूर्तेरङ्घ्रि-सेवने ॥ १३० ॥

श्रद्धा विशेषतः प्रीतिः श्री-मूर्तेरङ्घ्रि-सेवने ॥ १३० ॥

श्रद्धा—श्रद्धा; **विशेषतः**—मुख्य रूप से; **प्रीतिः**—प्रेम; **श्री-मूर्तेः**—भगवान् के श्रीविग्रह के; **अङ्घ्रि-सेवने**—चरणकमलों की सेवा में।

अनुवाद

"'अर्चाविग्रह के चरणकमलों की पूजा पूर्ण श्रद्धा तथा प्रेम सहित करनी चाहिए।

तात्पर्य

यह श्लोक तथा अगले दो श्लोक भी *भक्तिरसामृतसिन्धु* में पाये जाते हैं (१.२.९०-९२)।

श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह ।
सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे ॥ १३१ ॥

श्रीमद्भागवत—*श्रीमद्भागवत* के; **अर्थानाम्**—अर्थों का; **आस्वादः**—आस्वादन करना; **रसिकैः सह**—भक्तों के साथ; **स-जातीय**—समान; **आशये**—इच्छा से युक्त; **स्निग्धे**—भक्तिमय स्नेह में उन्नत स्तर पर; **साधौ**—भक्त के साथ; **सङ्गः**—संगति; **स्वतः**—अपने; **वरे**—भले के लिए।

अनुवाद

"'शुद्ध भक्तों की संगति में श्रीमद्भागवत के अर्थ का आस्वादन करना चाहिए। उसे अपने से अधिक उन्नत तथा अपने ही जैसे भगवत्प्रेमी भक्तों की संगति करनी चाहिए।

तात्पर्य

सजातीयाशये स्निग्धेसाधौ सङ्गः स्वतो वरे—शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भक्त को पेशेवर भागवत वाचकों की संगति नहीं करनी चाहिए। भागवत का पेशेवर वाचक वह है, जो न तो गुरु-शिष्य परम्परा से सम्बन्धित होता है, न ही उसमें भक्ति के प्रति कोई रुचि होती है। मात्र वाक्जाल तथा व्याकरण के ज्ञान के बल पर ये पेशेवर वाचक *श्रीमद्भागवत* का वाचन अपनी इन्द्रियतृप्ति और जीवन के निर्वाह के लिए करते हैं। भगवान् विष्णु तथा उनके भक्तों के प्रतिकुल व्यक्तियों, मायावादियों, हरे कृष्ण महामन्त्र के कीर्तन के प्रति अपराध करने वालों, मात्र वैष्णव-वेश बनाने वालों से या तथाकथित गोस्वामियों से

तथा वैदिक मन्त्रों को बेचने का धन्धा चलाने वालों से एवं अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए *श्रीमद्भागवत* बाँचने वालों से दूर रहना चाहिए। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों से *श्रीमद्भागवत* नहीं समझना चाहिए। वैदिक आदेश है— *यस्य देवे परा भक्तिः। श्रीमद्भागवत* का प्रवचन वही कर सकता है, जिसकी अटूट श्रद्धा कृष्ण तथा उनके भक्त, गुरु के चरणकमलों में होती है। भक्त को गुरु से *श्रीमद्भागवत* समझने का प्रयास करना चाहिए। वैदिक आदेश है— *भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्ध्या न च टीकया* । *श्रीमद्भागवत* को भक्तिमयी सेवा द्वारा तथा शुद्ध भक्तों के प्रवचन को सुनकर ही समझना चाहिए। ये श्रुति तथा स्मृति के आदेश हैं। जो गुरु-शिष्य परम्परा से सम्बन्धित नहीं हैं और जो शुद्ध भक्त नहीं हैं, वे *श्रीमद्भागवत* तथा *श्रीमद्भगवद्गीता* के वास्तविक गुह्य आशय को नहीं समझ सकते।

नाम-सङ्कीर्तनं श्रीमन्मथुरा-मण्डले स्थितिः ॥ १३२॥

नाम-सङ्कीर्तनं श्रीमन्मथुरा-मण्डले स्थितिः ॥ १३२॥

नाम-सङ्कीर्तनम्—हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन; **श्रीमन्-मथुरा-मण्डले**—मथुरा में, जहाँ कृष्ण विशिष्ट रूप से अपनी लीलाएँ करते हैं; **स्थितिः**—वास करना चाहिए।

अनुवाद

'भक्त को भगवान् के पवित्र नाम का सामूहिक कीर्तन करना चाहिए और वृन्दावन में निवास करना चाहिए।'

तात्पर्य

श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है :

श्री गौड़ मण्डलभूमि, येब जाने चिन्तामणि,
तार हय ब्रजभूमि वास

"जो नवद्वीप और इसके आसपास के क्षेत्र की दिव्य प्रकृति को समझता है, जहाँ श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपनी लीलाएँ प्रदर्शित कीं, वह सदैव वृन्दावन में रहता है।" इसी प्रकार जगन्नाथ पुरी में रहना वृन्दावन में रहने के समान है। निष्कर्ष यह है कि नवद्वीप धाम, जगन्नाथ पुरी धाम तथा वृन्दावन धाम अभिन्न हैं।

यदि कोई व्यक्ति इन्द्रियतुष्टि के लिए या जीविका कमाने के लिए मथुरामण्डल में जाता है, तो वह अपराध करता है और वह निन्दनीय है। जो भी ऐसा करता है, उसे अगले जन्म में वृन्दावन धाम में शूकर या बन्दर का जन्म लेकर दण्ड भोगना पड़ता है। ऐसा शरीर धारण करने पर अपराधी को अगले जन्म में मुक्ति मिल जाती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की टिप्पणी है कि इन्द्रियतृप्ति की दृष्टि से वृन्दावन में निवास करने से तथाकथित भक्त को निम्न योनि में जन्म लेना पड़ता है।

दुरूहाद्भुत-वीर्येऽस्मिन्श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके ।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भाव-जन्मने ॥ १३३॥

दुरूहाद्भुत-वीर्येऽस्मिन्श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके ।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भाव-जन्मने ॥ १३३॥

दुर्-ऊह—समझने में कठिन; **अद्भुत**—आश्चर्यजनक; **वीर्ये**—शक्ति में; **अस्मिन्**—इसमें; **श्रद्धा**—विश्वास; **दूरे**—दूर; **अस्तु**—रहे; **पञ्चके**—ऊपर बताये गये पाँच सिद्धान्त; **यत्र**—जिसमें; **सु-अल्पः**—थोड़ा सा; **अपि**—भी; **सम्बन्धः**—सम्बन्ध; **सत्-धियाम्**—जो बुद्धिमान और निरपराध हैं; **भाव-जन्मने**—अपने प्रसुप्त कृष्ण-प्रेम को जागृत करने के लिए।

अनुवाद

"'इन पाँचों सिद्धान्तों की शक्ति अद्भुत और समझ पानी कठिन है। अपराधरहित श्रद्धाविहीन व्यक्ति भी उनसे थोड़ा भी सम्बन्धित होने पर कृष्ण के प्रति सुप्त प्रेम को जाग्रत कर सकता है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२३८) में आया है।

'एक' अङ्ग साधे, केह साधे 'बहु' अङ्ग ।
'निष्ठा' हैले उपजय प्रेमेर तरङ्ग ॥ १३४॥

'एक' अङ्ग साधे, केह साधे 'बहु' अङ्ग ।
'निष्ठा' हैले उपजय प्रेमेर तरङ्ग ॥ १३४॥

एक—एक; **अङ्ग**—भाग; **साधे**—पालन करता है; **केह**—कोई; **साधे**—पालन करता

है; **बहु**—अनेक; **अङ्ग**—भाग; **निष्ठा**—दृढ़ विश्वास; **हैले**—यदि हो; **उपजय**—जाग जाती है; **प्रेमेर**—भगवत्प्रेम की; **तरङ्ग**—लहरें।

अनुवाद

"जब कोई व्यक्ति भक्ति में स्थिर हो जाता है, तो चाहे वह भक्ति की एक विधि को सम्पन्न करे या अनेक विधियों को, उसमें भगवत्प्रेम की तरंगें जाग्रत हो ही जाती हैं।

तात्पर्य

भक्ति की नौ विधियाँ हैं—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् / अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म-निवेदनम्। (इस अध्याय का श्लोक १२१ भी देखें।)

'एक' अङ्गे सिद्धि पाइल बहु भक्त-गण ।
अम्बरीषादि भक्तेर 'बहु' अङ्ग-साधन ॥ १३५॥

'एक' अङ्गे सिद्धि पाइल बहु भक्त-गण ।
अम्बरीषादि भक्तेर 'बहु' अङ्ग-साधन ॥ १३५॥

एक अङ्गे—एक अंग द्वारा; **सिद्धि**—सिद्धि; **पाइल**—प्राप्त की; **बहु**—अनेक; **भक्त-गण**—भक्तों ने; **अम्बरीष-आदि**—महाराज अम्बरीष आदि; **भक्तेर**—भक्तों का; **बहु अङ्ग-साधन**—भगवत्सेवा की अनेक विधियों का पालन।

अनुवाद

"ऐसे अनेक भक्त हैं, जो भक्ति की नौ विधियों में से केवल एक का पालन करते हैं, तो भी उन्हें चरम सफलता प्राप्त होती है। महाराज अम्बरीष जैसे भक्तगण नवों विधियों का सदैव पालन करते हैं और वे भी चरम सफलता प्राप्त करते हैं।

श्री-विष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रि-भजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपि-पतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्व-स्वात्म-निवेदने बलिरभूत्कृष्णाप्तिरेषां परा ॥ १३६॥

श्री-विष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रि-भजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपि-पतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्व-स्वात्म-निवेदने बलिरभूत्कृष्णाप्तिरेषां परा ॥ १३६ ॥

श्री-विष्णोः—भगवान् श्रीविष्णु का; **श्रवणे**—श्रवण करने में; **परीक्षित्**—महाराज परीक्षित, जो 'विष्णुरात' अर्थात् जो भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित है, नाम से भी जाने जाते हैं; **अभवत्**—हुए; **वैयासकिः**—शुकदेव गोस्वामी; **कीर्तने**—*श्रीमद्भागवत* का उच्चारण करने में; **प्रह्लादः**—प्रह्लाद महाराज; **स्मरणे**—स्मरण करने में; **तत्-अङ्घ्रि**—भगवान् विष्णु के चरणकमलों की; **भजने**—सेवा में; **लक्ष्मीः**—सौभाग्य की देवी; **पृथुः**—पृथु महाराज; **पूजने**—भगवान् के विग्रह की सेवा में; **अक्रूरः**—अक्रूर; **तु**—लेकिन; **अभिवन्दने**—प्रार्थनाएँ अर्पित करने में; **कपि-पतिः**—हनुमानजी या वज्राँगजी; **दास्ये**—भगवान् रामचन्द्र की दासता में; **अथ**—और भी; **सख्ये**—मैत्री में; **अर्जुनः**—अर्जुन; **सर्व-स्व-आत्म-निवेदने**—स्वयं को पूर्णतः समर्पित करके; **बलिः**—महाराज बलि; **अभूत्**—हो गई; **कृष्ण-आप्तिः**—भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की प्राप्ति; **एषाम्**—इन सबको; **परा**—दिव्य।

अनुवाद

'"महाराज परीक्षित ने भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण केवल विष्णु के विषय में सुनकर प्राप्त की। यही उनकी चरम सिद्धि थी। शुकदेव गोस्वामी ने केवल श्रीमद्भागवत सुनाकर पूर्णता प्राप्त की। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् का स्मरण करके पूर्णता प्राप्त की। लक्ष्मी ने महाविष्णु के दिव्य चरण दबाकर पूर्णता प्राप्त की। महाराज पृथु ने अर्चाविग्रह की पूजा करके तथा अक्रूर ने भगवान् की स्तुति करके पूर्णता प्राप्त की। वज्राँगजी (हनुमान) ने भगवान् रामचन्द्र की सेवा करके तथा अर्जुन ने कृष्ण का सखा बनकर पूर्णता प्राप्त की। बलि महाराज ने कृष्ण के चरणकमलों पर अपना सर्वस्व अर्पित करके पूर्णता प्राप्त की।'

तात्पर्य

यह श्लोक *पद्यावली* (५३) में तथा *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२६५) में आया है।

स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोर्
वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने ।

करौ हरेर्मन्दिर-मार्जनादिषु
शृतिं चकाराच्युत-सत्कथोदये ॥ १३७ ॥
मुकुन्द-लिङ्गालय-दर्शने दृशौ
तद्भृत्य-गात्र-स्परशेऽङ्ग-सङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पाद-सरोज-सौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ १३८ ॥
पादौ हरेः क्षेत्र-पदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेश-पदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु काम-काम्यया
यथोत्तमःश्लोक-जनाश्रया रतिः ॥ १३९ ॥

स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोर्
वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिर-मार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युत-सत्कथोदये ॥ १३७ ॥
मुकुन्द-लिङ्गालय-दर्शने दृशौ
तद्भृत्य-गात्र-स्परशेऽङ्ग-सङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पाद-सरोज-सौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ १३८ ॥
पादौ हरेः क्षेत्र-पदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेश-पदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु काम-काम्यया
यथोत्तमःश्लोक-जनाश्रया रतिः ॥ १३९ ॥

सः—उन्होंने (महाराज परीक्षित ने); **वै**—निश्चित रूप से; **मनः**—मन को; **कृष्ण-पद-अरविन्दयोः**—कृष्ण के चरणकमलों में; **वचांसि**—वचनों को; **वैकुण्ठ-गुण-अनुवर्णने**—कृष्ण के दिव्य-चरित्र का वर्णन करने में; **करौ**—दोनों हाथों को; **हरेः**—भगवान् कृष्ण या विष्णु के; **मन्दिर-मार्जन-आदिषु**—हरि के मन्दिर की सफाई आदि सेवाओं में; **श्रुतिम्**—कानों को; **चकार**—नियुक्त किया; **अच्युत**—भगवान् अच्युत के; **सत्-कथा-उदये**—दिव्य विषयों की चर्चा में; **मुकुन्द-लिङ्ग**—भगवान् के श्रीविग्रह के; **आलय**—मन्दिरों में; **दर्शने**—दर्शन में; **दृशौ**—दोनों नेत्रों को; **तत्-भृत्य**—भगवान् के सेवकों के; **गात्र**—शरीरों के; **स्परशे**—स्पर्श में; **अङ्ग-सङ्गमम्**—देह के स्पर्श यथा चरणकमलों के स्पर्श या आलिंगन में; **घ्राणम्**—सूंघने की इन्द्रियों को; **च**—तथा; **तत्-पाद-सरोज**—भगवान् के चरणकमलों के;

सौरभे—सुगन्ध के; **श्रीमत्**—सबसे शुभ; **तुलस्याः**—तुलसी पत्तों के; **रसनाम्**—जीभ को; **तत्-अर्पिते**—भगवान् को अर्पित भोजन में; **पादौ**—दोनों चरणों को; **हरेः**—भगवान् हरि के; **क्षेत्र**—तीर्थ स्थान में; **पद-अनुसर्पणे**—चलने में; **शिरः**—सिर को; **हृषीकेश**—परम भगवान्, इन्द्रियों के स्वामी के; **पद-अभिवन्दने**—चरणकमलों में प्रार्थनाएँ अर्पित करने में; **कामम्**—सभी इच्छाएँ; **च**—तथा; **दास्ये**—भगवान् की सेवा में; **न**—नहीं; **तु**—लेकिन; **काम-काम्यया**—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से; **यथा**—जितना; **उत्तमः-श्लोक**—उत्तम श्लोकों से पूजित भगवान् को; **जन**—भक्तों में; **आश्रया**—शरण लेकर; **रतिः**—आसक्ति।

अनुवाद

"'महाराज अम्बरीष सदैव अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों में, अपनी वाणी को आध्यात्मिक जगत् तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का वर्णन करने में, अपने हाथों को भगवान् का मन्दिर बुहारने तथा धोने में, अपने कानों को परमेश्वर की कथाएँ सुनने में, अपनी आँखों को मन्दिर में स्थापित भगवान् कृष्ण के अर्चाविग्रह का दर्शन करने में, अपने शरीर को वैष्णवों के चरणकमलों का स्पर्श करने में तथा उनका आलिंगन करने में, अपने नथुनों को कृष्ण के चरणकमलों पर चढ़ी तुलसी की पत्तियों की गन्ध सूँघने में, अपनी जीभ को कृष्ण को अर्पित भोजन का आस्वादन करने में, अपने पाँवों को वृन्दावन या मथुरा जैसे तीर्थस्थानों तक या भगवान् के मन्दिर तक जाने में और अपने सिर को भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श में करने तथा उनकी स्तुति करने में और अपनी इच्छाओं को भगवान् की निष्ठापूर्ण सेवा करने में लगाया। इस तरह महाराज अम्बरीष ने अपनी सारी इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाया। फलस्वरूप उन्होंने अपनी सुप्त भगवत्सेवा लालसा को जाग्रत किया।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *श्रीमद्भागवत* (९.४.१८-२०) से लिया गया है।

काम त्यजि' कृष्ण भजे शास्त्र-आज्ञा मानि' ।
देव-ऋषि-पित्रादिकेर कभु नहे ऋणी ॥ १४० ॥

काम त्यजि' कृष्ण भजे शास्त्र-आज्ञा मानि' ।
देव-ऋषि-पित्रादिकेर कभु नहे ऋणी ॥ १४० ॥

काम—भौतिक इच्छाएँ; **त्यजि'**—त्यागकर; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण की; **भजे**—सेवा करता है; **शास्त्र-आज्ञा**—प्रामाणिक शास्त्रों का निर्देश; **मानि'**—मानकर; **देव**—देवता; **ऋषि**—महान् सन्त; **पितृ-आदिकेर**—पितरों आदि की; **कभु**—किसी भी समय; **नहे**—नहीं; **ऋणी**—ऋणी।

अनुवाद

"यदि कोई व्यक्ति प्रामाणिक शास्त्रों के आदेशानुसार समस्त भौतिक इच्छाओं को त्यागकर कृष्ण की प्रेमाभक्ति में पूरी तरह लग जाता है, तो वह देवताओं, ऋषियों, मुनियों या पूर्वजों से उऋण हो जाता है।

तात्पर्य

जन्म के बाद हर व्यक्ति अनेक प्रकार से ऋणी रहता है। वह देवताओं का ऋणी होता है, क्योंकि वे वायु, प्रकाश तथा जल जैसी आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते हैं। जब व्यक्ति वैदिक ग्रन्थों का लाभ उठाता है, तो वह व्यासदेव, नारद, देवल तथा असित जैसे ऋषियों-मुनियों का ऋणी बन जाता है। जब वह किसी विशेष परिवार में जन्म लेता है, तो वह अपने पूर्वजों का ऋणी होता है; यहाँ तक कि हम सामान्य जीवों के भी ऋणी होते हैं। उदाहरणार्थ हम उन गायों के ऋणी हैं, जिनका हम दूध पीते हैं। चूँकि हम अनेक पशुओं से सेवा लेते हैं, इसलिए हम उनके ऋणी हो जाते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति पूर्णरूपेण भगवद्भक्ति में लगा रहता है, तो वह समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता है। इसकी पुष्टि अगले श्लोक द्वारा होती है, जो *श्रीमद्भागवत* (११.५.४१) से उद्धृत है।

देवर्षि-भूताप्त-नृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥१४१॥

देवर्षि-भूताप्त-नृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥ १४१ ॥

देव—देवताओं का; **ऋषि**—ऋषिओं का; **भूत**—सामान्य जीवों का; **आप्त**—मित्रों तथा सम्बन्धियों का; **नृणाम्**—सामान्य लोगों का; **पितृणाम्**—पितरों का; **न**—नहीं; **किङ्करः**—सेवक; **न**—नहीं; **अयम्**—यह; **ऋणी**—ऋणी; **च**—तथा; **राजन्**—हे राजा; **सर्व-आत्मना**—पूर्ण रूप से; **यः**—जो व्यक्ति; **शरणम्**—शरण में; **शरण्यम्**—सबको शरण देने वाले परम भगवान् की; **गतः**—जाता है; **मुकुन्दम्**—मुकुन्द की; **परिहृत्य**—त्यागकर; **कर्तम्**—कर्तव्य।

अनुवाद

"'जिस व्यक्ति ने सारे भौतिक कर्तव्यों का परित्याग करके सबको शरण देने वाले मुकुन्द के चरणकमलों में शरण ग्रहण कर ली है, वह देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, सम्बन्धियों, मित्रों, मनुष्यों या दिवंगत पूर्वजों का ऋणी नहीं रह जाता।'

तात्पर्य

कहा गया है :

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥

"घी की आहुति डालने से देवता प्रसन्न होते हैं। वेदाध्ययन से *ब्रह्मयज्ञ* सम्पन्न होता है, जिससे बड़े-बड़े मुनि सन्तुष्ट होते हैं। अपने पितरों को जल का तर्पण करना *पितृ-यज्ञ* कहलाता है। बलि अर्पण करने से *भूत-यज्ञ* सम्पन्न होता है। अतिथि-सत्कार से *नृयज्ञ* सम्पन्न होता है।" इस प्रकार पाँच यज्ञ हैं, जो पाँच प्रकार के ऋणों से मुक्ति दिलाते हैं—देवताओं, ऋषियों, पितरों, जीवों तथा सामान्य व्यक्तियों के प्रति ऋणी होना। इसलिए हर एक को पाँच प्रकार के यज्ञ करने होते हैं। किन्तु जब कोई संकीर्तन-यज्ञ अपनाता है, तो उसे कोई अन्य यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रहती। *श्रीमद्भागवत* में नारद मुनि ने महाराज निमि के समक्ष नौ योगेन्द्रों द्वारा किये गये कथनों के प्रसंग में *भागवत धर्म* सम्पन्न करने की विधि बतलाई है। करभाजन ऋषि ने चारों युगों के चार अवतार बतलाये और अन्त में इस श्लोक (१४१) में उन्होंने कृष्ण के शुद्ध भक्त की स्थिति बतलाई है कि किस तरह वह सारे ऋणों से मुक्त हो जाता है।

বিধি-ধর্ম ছাড়ি' ভজে কৃষ্ণের চরণ ।
নিষিদ্ধ পাপাচারে তার কভু নহে মন ॥ ১৪২॥

विधि-धर्म छाड़ि' भजे कृष्णेर चरण ।
निषिद्ध पापाचारे तार कभु नहे मन ॥ १४२॥

विधि-धर्म छाड़ि'—वर्णाश्रम व्यवस्था के सभी विधि-निषेधों को त्यागकर; **भजे**—पूजा करता है; **कृष्णेर चरण**—भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की; **निषिद्ध**—मना; **पाप-आचारे**—पापकर्मों में; **तार**—उसका; **कभु**—किसी भी समय; **नहे**—नहीं; **मन**—मन।

अनुवाद

"यद्यपि शुद्ध भक्त वर्णाश्रम के सारे नियमों का पालन नहीं करता, किन्तु वह कृष्ण के चरणकमलों की पूजा करता है। इसलिए उसमें स्वाभाविक रूप से पाप करने की प्रवृत्ति नहीं होती।

तात्पर्य

वर्णाश्रम प्रणाली ऐसी बनाई गई है कि मनुष्य पापकर्म न करे। पापकर्मों के कारण वह भौतिक जगत् में बना रहता है। जब कोई इस जीवन में पापकर्म करता है, तो उसे अगले जन्म में उसी के अनुरूप शरीर मिलता है। जब वह पुनः पाप करता है, तो उसे अन्य भौतिक शरीर मिलता है। इस तरह वह निरन्तर भौतिक प्रकृति के वशीभूत बना रहता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसदयोनिजन्मसु॥

"इस तरह भौतिक प्रकृति में जीव भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों का भोग करते हुए जीवन-धारा का अनुसरण करता है। यह उस भौतिक प्रकृति के साथ उसकी संगति के कारण होता है। इस तरह उसका सामना विविध योनियों में अच्छे और बुरे से होता है।" (*भगवद्गीता* १३.२२)

भौतिक प्रकृति के गुणों की संगति के फलस्वरूप ही हमें अच्छे या बुरे शरीर प्राप्त होते हैं। जन्म तथा मृत्यु के चक्र से, जो आत्मा का देहान्तरण कहलाता है, मनुष्य तब तक नहीं छूट सकता, जब तक वह समस्त पापकर्मों से मुक्त न हो चुका हो। इसलिए सर्वोत्तम उपाय यह है कि कृष्णभावनामृत को स्वीकार किया जाए। पापकर्मों से मुक्त हुए बिना कृष्णभावनामृत ग्रहण नहीं

किया जा सकता। स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के विषय में गम्भीर होता है, वह सभी पापकर्मों से मुक्त होता है। फलस्वरूप भक्त कभी-भी पाप करने में प्रवृत्त नहीं होता। यदि किसी को कानून द्वारा या जबरदस्ती पापकर्म छोड़ने पड़ें, तो वह ऐसा नहीं कर सकता। किन्तु यदि वह कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, तो वह सारे पापकर्मों को सरलता से त्याग सकता है। यहाँ इसकी पुष्टि हुई है।

अज्ञाने वा हय यदि 'पाप' उपस्थित ।
कृष्ण ताँरे शुद्ध करे, ना कराय प्रायश्चित्त ॥ १४३॥

अज्ञाने वा हय यदि 'पाप' उपस्थित ।
कृष्ण ताँरे शुद्ध करे, ना कराय प्रायश्चित्त ॥ १४३॥

अज्ञाने—अज्ञान द्वारा; **वा**—अथवा; **हय**—हो जाते हैं; **यदि**—यदि; **पाप**—पापकर्म; **उपस्थित**—उपस्थित; **कृष्ण**—भगवान् कृष्ण; **ताँरे**—उसे (भक्त को); **शुद्ध करे**—शुद्ध कर देते हैं; **ना कराय**—नहीं करवाते; **प्रायश्चित्त**—प्रायश्चित्त।

अनुवाद

"किन्तु यदि संयोगवश कोई भक्त पापकर्म में लिप्त हो जाता है, तो कृष्ण उसे शुद्ध कर लेते हैं। उसे विधिवत् प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता।

तात्पर्य

कृष्ण *चैत्य गुरु* अर्थात् हृदय में स्थित गुरु के रूप में भीतर से शुद्ध कर देते हैं। इसका वर्णन अगले श्लोक में किया गया है, जो *श्रीमद्भागवत* (११.५.४२) से लिया गया है।

स्व-पाद-मूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्य-भावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥ १४४॥

स्व-पाद-मूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्य-भावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥ १४४॥

स्व-पाद-मूलम्—कृष्ण की चरणकमलों की, जो भक्तों के आश्रय हैं; **भजतः**—जो सेवा में लगा हुआ है; **प्रियस्य**—जो कृष्ण को अत्यन्त प्रिय है; **त्यक्त**—त्यागा हुआ; **अन्य**—दूसरों के लिए; **भावस्य**—जिसकी भावना; **हरिः**—परम भगवान् हरि; **पर-ईशः**—परमेश्वर; **विकर्म**—पापकर्म; **यत्**—जो भी; **च**—तथा; **उत्पतितम्**—हो गये; **कथञ्चित्**—किसी प्रकार; **धुनोति**—नष्ट कर देते हैं; **सर्वम्**—सब कुछ; **हृदि**—हृदय में; **सन्निविष्टः**—प्रविष्ट।

अनुवाद

"'जिसने सब कुछ त्यागकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि के चरणकमलों में शरण ले ली है, वह कृष्ण को अत्यन्त प्रिय होता है। यदि संयोगवश वह किसी पापकर्म में लिप्त हो जाता है, तो प्रत्येक हृदय में स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उसके पापों को सरलता से दूर कर देते हैं।'

ज्ञान-वैराग्यादि—भक्तिर कभु नहे 'अङ्ग' ।
अहिंसा-यम-नियमादि बुले कृष्ण-भक्त-सङ्ग ॥ १४५॥

ज्ञान-वैराग्यादि—भक्तिर कभु नहे 'अङ्ग' ।
अहिंसा-यम-नियमादि बुले कृष्ण-भक्त-सङ्ग ॥ १४५॥

ज्ञान—ज्ञान का मार्ग; **वैराग्य-आदि**—वैराग्य का मार्ग आदि; **भक्तिर**—भक्ति के; **कभु**—कभी भी; **नहे**—नहीं हैं; **अङ्ग**—भाग; **अहिंसा**—अहिंसा; **यम**—इन्द्रियों और मन को नियन्त्रित करना; **नियम-आदि**—नियम इत्यादि; **बुले**—घूमते हैं; **कृष्ण-भक्त-सङ्ग**—भगवान् कृष्ण के भक्त के संग में।

अनुवाद

"भक्ति के लिए ज्ञान तथा त्याग का मार्ग आवश्यक नहीं है। हाँ, कुछ सद्गुण—यथा अहिंसा तथा मन और इन्द्रिय का नियन्त्रण—भगवान् कृष्ण के भक्त में स्वतः आ जाते हैं।

तात्पर्य

कभी-कभी एक कनिष्ठ भक्त या सामान्य व्यक्ति ज्ञान, तपस्या तथा त्याग को भक्ति की प्रगति के लिए एकमात्र मार्ग समझते हुए इनके विषय में उच्च विचार रखता है। किन्तु यह सच्चाई नहीं है। ज्ञान, योग तथा त्याग के मार्ग को शुद्ध आत्मा से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। भौतिक जगत् में क्षणिक रूप

से रहते हुए भले ही ऐसी विधियाँ कुछ सहायक प्रतीत हों, किन्तु कृष्ण के शुद्ध भक्त के लिए ये आवश्यक नहीं हैं। भौतिक जगत् में ऐसे कार्यों की परिणति भौतिक भोग में या ब्रह्मतेज में तदाकार होने में होती है। उन्हें भगवान् की नित्य प्रेमाभक्ति से कोई सरोकार नहीं होता। यदि मनुष्य तार्किक ज्ञान का परित्याग करके केवल भक्ति में लग जाता है, तो समझिये उसे सिद्धि मिल गई। भक्त को तार्किक ज्ञान, पुण्यकर्म या योग की आवश्यकता नहीं रहती। जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करता है, तो ये सब स्वत: विद्यमान रहते हैं।

तस्मान्मद्भक्ति-युक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ १४६॥

तस्मान्मद्भक्ति-युक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ १४६॥

तस्मात्—इसलिए; **मत्-भक्ति**—मेरी भक्तिमय सेवा में; **युक्तस्य**—जो लगा हुआ है उसका; **योगिनः**—प्रथम श्रेणी के योगी के; **वै**—निश्चित रूप से; **मत्-आत्मनः**—जिसका मन सदैव मुझमें लगा हुआ है; **न**—नहीं; **ज्ञानम्**—मनोकल्पित ज्ञान; **न**—नहीं; **च**—और; **वैराग्यम्**—शुष्क वैराग्य; **प्रायः**—प्रायः; **श्रेयः**—लाभकारी; **भवेत्**—होता; **इह**—इस संसार में।

अनुवाद

"'जो मेरी भक्ति में पूरी तरह से लगा हुआ है, जिसका मन मेरे भक्तियोग में स्थिर है, उसके लिए तार्किक ज्ञान तथा शुष्क वैराग्य का मार्ग अधिक लाभप्रद नहीं होता।'

तात्पर्य

भक्ति-मार्ग सदैव अन्य कर्मों से स्वतन्त्र होता है। भले ही ज्ञान या योग का मार्ग प्रारम्भ में लाभप्रद प्रतीत हो, किन्तु इसे भक्ति का अंग नहीं माना जा सकता। यह श्लोक (*श्रीमद्भागवत* ११.२०.३१) कृष्ण द्वारा इस भौतिक जगत् से अपने प्रयाण के पूर्व उद्धव से कहा गया था। ये महत्त्वपूर्ण उपदेश स्वयं भगवान् कृष्ण द्वारा दिये गये हैं। श्री उद्धव ने भगवान् से वेदों में दिये गये दो प्रकार के उपदेशों के विषय में पूछा था। पहला उपदेश *प्रवृत्ति मार्ग* कहलाता है और दूसरा *निवृत्ति मार्ग*। ये आदेश विधानों के अनुसार भौतिक जगत् का

भोग करने तथा उच्चतर आध्यात्मिक ज्ञान हेतु भौतिक जगत् का परित्याग करने के विषय में हैं। कभी-कभी मनुष्य यह नहीं जान पाता कि आध्यात्मिक ज्ञान की प्रगति के लिए ज्ञान का अभ्यास किया जाए या योग का। कृष्ण उद्धव को बतलाते हैं कि भक्ति में प्रगति करने के लिए ज्ञान तथा योग की यान्त्रिक विधि आवश्यक नहीं है। भक्ति पूर्णतया आध्यात्मिक होती है; उसे भौतिक विषयों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। भक्तों की संगति में रहकर श्रवण तथा कीर्तन से यह जाग्रत होती है। चूँकि भक्ति सदैव दिव्य होती है, इसलिए भौतिक कर्म से इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता।

एते न ह्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः ।
हरि-भक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः पर-तापिनः ॥ १४७॥

एते न ह्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः ।
हरि-भक्तौ प्रवृत्ता ग्ने न ते स्युः पर-तापिनः ॥ १४७॥

एते—ये सभी; **न**—नहीं; **हि**—निश्चित रूप से; **अद्भुताः**—अद्भुत; **व्याध**—हे शिकारी; **तव**—तुम्हारे; **अहिंसा-आदयः**—अहिंसा आदि; **गुणाः**—गुण; **हरि-भक्तौ**—भगवान् हरि की भक्ति में; **प्रवृत्ताः**—लगे हुए हैं; **ग्ने**—जो लोग; **न**—नहीं; **ते**—वे; **स्युः**—होते; **परतापिनः**—दूसरों को ईर्ष्यावश कष्ट देने वाले।

अनुवाद

'"हे व्याध, तुमने जो अहिंसा जैसा सद्गुण अपना रखा है, वह आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि जो भगवान् की भक्ति में लगे हुए हैं, वे ईर्ष्यावश अन्यों को कष्ट नहीं देना चाहते।'

तात्पर्य

यह उद्धरण *स्कन्द-पुराण* से है और नारद मुनि द्वारा सुधरे हुए शिकारी मृगारि से कहा गया था।

वैधी-भक्ति-साधनेर कहिलुँ विवरण ।
रागानुगा-भक्तिर लक्षण शुन, सनातन ॥१४८॥

वैधी-भक्ति-साधनेर कहिलुँ विवरण ।
रागानुगा-भक्तिर लक्षण शुन, सनातन ॥ १४८॥

वैधी-भक्ति—विधि निषेधों के अनुसार भक्ति; **साधनेर**—साधना का; **कहिलुँ**—मैंने किया है; **विवरण**—वर्णन; **रागानुगा-भक्तिर**—रागानुग भगवत्सेवा के; **लक्षण**—लक्षण; **शुन**—कृपया सुनो; **सनातन**—हे सनातन।

अनुवाद

"हे सनातन, मैं वैधी भक्ति के विषय में विस्तार से बतला चुका हूँ। अब मुझसे स्वतःस्फूर्त रागानुगा भक्ति तथा उसके लक्षणों के विषय में सुनो।

रागात्मिका-भक्ति—'मुख्या' व्रज-वासि-जने ।
तार अनुगत भक्तिर 'रागानुगा'-नामे ॥ १४९॥

रागात्मिका-भक्ति—'मुख्या' व्रज-वासि-जने ।
तार अनुगत भक्तिर 'रागानुगा'-नामे ॥ १४९॥

रागात्मिका-भक्ति—स्वाभाविक भगवत्सेवा; **मुख्या**—प्रमुख; **व्रज-वासि-जने**—व्रज या वृन्दावन के निवासियों में; **तार**—उनके; **अनुगत**—अधीन रहकर; **भक्तिर**—भक्ति का; **रागानुगा-नामे**—रागानुग नामक या स्वाभाविक प्रेम में अनुसरण करना।

अनुवाद

"वृन्दावन के मूल निवासी कृष्ण से रागात्मिका भक्ति द्वारा जुड़े हुए हैं। ऐसी रागात्मिका भक्ति की कोई बराबरी नहीं कर सकता। जब कोई भक्त वृन्दावन के भक्तों के चरणचिह्नों का अनुसरण करता है, तो उसकी भक्ति रागानुगा (स्वतःस्फूर्त) भक्ति कहलाती है।

तात्पर्य

जीव गोस्वामी ने *भक्ति सन्दर्भ* में कहा है :

तदेवं तत्तदभिमानलक्षणभावविशेषेण स्वाभाविकरागस्य वैशिष्ट्ये सति तत्तद्रागप्रयुक्ता श्रवणकीर्तनस्मरणपादसेवनवन्दनात्मनिवेदनप्राया भक्तिस्तेषां रागात्मिका भक्तिरित्युच्यते... ततस्तदीयं रागं रुच्यानुगच्छन्ति सा रागानुगा।

जब शुद्ध भक्त वृन्दावन के भक्त के चरणचिह्नों का अनुगमन करता है, तो उसमें रागानुगा *भक्ति* उत्पन्न होती है।

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥ १५० ॥

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥ १५० ॥

इष्टे—जीवन के इच्छित विषय में; **स्वा-रसिकी**—अपने मूल प्रेमभाव के अनुरूप; **रागः**—आसक्ति; **परम-आविष्टता**—भगवान् की सेवा में आवेश; **भवेत्**—होती है; **तत्-मयी**—उस दिव्य आसक्ति से युक्त; **या**—जो; **भवेत्**—होती है; **भक्तिः**—भक्ति; **सा**—वह; **अत्र**—यहाँ; **रागात्मिका-उदिता**—रागात्मिका या स्वाभाविक प्रेममयी सेवा कही जाती है।

अनुवाद

"'जब भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में अनुरक्त हो जाता है, तब उसकी प्रेम करने की सहज प्रवृत्ति भगवान् के चिन्तन में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाती है। यह दिव्य अनुराग कहलाता है और इस अनुराग के अनुसार की गई भक्ति रागात्मिका भक्ति अर्थात् स्वतःस्फूर्त भक्तिमयी सेवा कहलाती है।'

तात्पर्य

यह श्लोक *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२७२) में आया है।

इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'—रागेर स्वरूप-लक्षण ।
इष्टे 'आविष्टता'—एइ तटस्थ-लक्षण ॥ १५१ ॥

इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'—रागेर स्वरूप-लक्षण ।
इष्टे 'आविष्टता'—एइ तटस्थ-लक्षण ॥ १५१ ॥

इष्टे—वांछित विषय, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; **गाढ़-तृष्णा**—प्रगाढ़ आसक्ति; **रागेर**—स्वाभाविक प्रेम का; **स्वरूप-लक्षण**—मुख्य लक्षण; **इष्टे**—भगवान् में; **आविष्टता**—आवेश; **एइ**—यह; **तटस्थ-लक्षण**—तटस्थ लक्षण।

अनुवाद

"रागात्मिका प्रेम का मूल लक्षण है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति प्रगाढ़ अनुराग। भगवान् में तल्लीनता तटस्थ लक्षण है।

রাগময়ী-ভক্তির হয় 'রাগাত্মিকা' নাম ।
তাহা শুনি' লুব্ধ হয় কোন ভাগ্যবান্ ॥ ১৫২ ॥

রাগময়ী-ভক্তির হয় 'রাগাত্মিকা' নাম ।
তাহা শুনি' লুব্ধ হয় কোন ভাগ্যবান্ ॥ ১৫২ ॥

রাগ-ময়ী—आसक्ति से युक्त; **ভক্তির**—भक्ति का; **হয়**—है; **রাগাত্মিকা**—रागात्मिका; **নাম**—नाम; **তাহা শুনি'**—यह सुनकर; **লুব্ধ**—लालायित; **হয়**—हो जाता है; **কোন ভাগ্যবান্**—कोई भाग्यवान् व्यक्ति।

अनुवाद

"इस तरह जो भक्ति राग (प्रगाढ़ आसक्ति) से युक्त होती है, वह रागात्मिका कहलाती है। यदि कोई भक्त ऐसी स्थिति को प्राप्त होता है, तो वह परम भाग्यशाली माना जाता है।

লোভে ব্রজ-বাসীর ভাবে করে অনুগতি ।
শাস্ত্র-যুক্তি নাহি মানে——রাগানুগার প্রকৃতি ॥ ১৫৩ ॥

লোভে ব্রজ-বাসীর ভাবে করে অনুগতি ।
শাস্ত্র-যুক্তি নাহি মানে——রাগানুগার প্রকৃতি ॥ ১৫৩ ॥

লোভে—ऐसी लालसा में; **ব্রজ-বাসীর ভাবে**—वृन्दावन के निवासियों के भाव में; **করে অনুগতি**—अनुसरण करता है; **শাস্ত্র-যুক্তি**—शास्त्रों के तर्कों का; **নাহি মানে**—पालन नहीं करता; **রাগানুগার**—स्वाभाविक प्रेम का; **প্রকৃতি**—स्वभाव।

अनुवाद

"यदि कोई व्यक्ति ऐसी दिव्य चेतना के वशीभूत होकर वृन्दावनवासियों के चरणचिह्नों का अनुसरण करता है, तो वह शास्त्रों के आदेशों या तर्कों की परवाह नहीं करता। यही राग का मार्ग है।

तात्पर्य

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि भक्त तो वृन्दावनवासियों—ग्वालों, महाराज नन्द, माता यशोदा, राधारानी, गोपियों तथा गौवों-बछड़ों—की सेवा से आकृष्ट होता है। उन्नत भक्त भगवान् के नित्य सेवक द्वारा की गई सेवा से आकृष्ट होता हैं। यह आकर्षण स्वत:स्फूर्त आकर्षण कहलाता है। शास्त्रीय दृष्टि से इसे *स्वरूप-उपलब्धि* कहते हैं। यह अवस्था

प्रारम्भ में प्राप्त नहीं हो पाती। प्रारम्भ में शास्त्रों तथा गुरु द्वारा नियत विधानों के अनुसार दृढ़तापूर्वक सेवा करनी होती है। *वैधी-भक्ति* की विधि से निरन्तर सेवा करते रहने से धीरे-धीरे सहज आकर्षण जागृत होता है। यह रागानुग आकर्षण या *रागानुगा भक्ति* कहलाती है।

रागानुग पद में स्थित भक्त पहले से ही शास्त्रीय आदेश तथा तर्क में दक्ष होता है। जब वह कृष्ण से सनातन प्रेम करने के स्तर पर आ जाता है, तो न तो तर्क, न ही शास्त्रीय प्रमाण उसे अपने पद से विचलित कर सकते हैं। उन्नत भक्त को भगवान् के साथ अपने सनातन सम्बन्ध की अनुभूति हो जाती है, इसलिए वह अन्यों के तर्क को नहीं मानता। ऐसे उन्नत भक्त को उन सहजियों से कुछ भी लेना-देना नहीं होता, जो मनगढ़ंत तरीका बनाकर अवैध सम्बन्ध, नशा, जुआ आदि में लिप्त होकर पाप करते हैं, भले ही वे मांसाहार न करें या न करें। कभी-कभी सहजिये लोग उन्नत भक्तों का अनुकरण करते हैं और शास्त्रीय नियमों से बचकर अपने मनमाने ढंग से रहते हैं। मनुष्य छः गोस्वामियों—श्री रूप, सनातन, रघुनाथ भट्ट, श्री जीव, गोपाल भट्ट तथा रघुनाथ दास—का अनुगमन किये बिना कृष्ण का प्रामाणिक रागानुगा भक्त नहीं बन सकता। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*रूपरघुनाथपदे हैबे आकुति कबे हाम बुझब से युगल पिरीति।* राधा-कृष्ण के प्रेमालाप के विषय में सहजियों की धारणा प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि वे छः गोस्वामियों द्वारा निर्धारित नियमों का पालन नहीं करते। उनका अवैध सम्बन्ध तथा उनके द्वारा रूप गोस्वामी के वेश की नकल तथा शास्त्रों के संस्तुत नियमों का उल्लंघन उन्हें नरक के गर्त में ले जायेगा। ये नकलची सहजिये ठगे गये तथा अभागे हैं। वे परमहंसों के समान नहीं हो सकते। लम्पट तथा परमहंस समान स्तर पर नहीं हो सकते।

বিরাজন্তীমভিব্যক্তাং ব্রজ-বাসি-জনাদিষু ।
রাগাত্মিকামনুসৃতা যা সা রাগানুগোচ্যতে ॥ ১৫৪॥

विराजन्तीमभिव्यक्तां व्रज-वासि-जनादिषु ।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥ १५४॥

विराजन्तीम्—तीव्रतापूर्वक दीप्तिमान; **अभिव्यक्ताम्**—पूर्ण रूप से प्रकाशित; **व्रज-वासि-जन-आदिषु**—वृन्दावन के सनातन निवासियों में; **राग-आत्मिकाम्**—रागानुग प्रेम से युक्त भक्ति; **अनुसृता**—अनुसरण करके; **या**—जो; **सा**—वह; **राग-अनुगा**—स्वाभाविक प्रेम युक्त भक्ति; **उच्यते**—कहलाती है।

अनुवाद

"'वृन्दावन के निवासियों में स्वतःस्फूर्त प्रेम में की जाने वाली भक्ति की जीवन्त अभिव्यक्ति तथा प्राकट्य देखा जाता है। जो भक्ति वृन्दावनवासियों की भक्ति के अनुरूप होती है, वह रागानुगा भक्ति अर्थात् स्वतःस्फूर्त प्रेम जाग्रत होने पर सम्पन्न होने वाली भक्ति कहलाती है।'

तात्पर्य

यह श्लोक भी *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२७०) में आया है।

तत्तद्भावादि-माधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ।
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्ति-लक्षणम् ॥ १५५ ॥

तत्तद्भावादि-माधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ।
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्ति-लक्षणम् ॥ १५५ ॥

तत्-तत्—उन; **भाव-आदि-माधुर्ये**—वृन्दावन के निवासियों के प्रेमभावों की मधुरता (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य रस); **श्रुते**—जब सुनी जाये; **धीः**—बुद्धि; **यत्**—जो; **अपेक्षते**—निर्भर करती है; **न**—नहीं; **अत्र**—यहाँ; **शास्त्रम्**—शास्त्रों पर; **न**—नहीं; **युक्तिम्**—तर्कवितर्क; **च**—तथा; **तत्**—वह; **लोभ**—चरणचिह्नों का अनुसरण करने का लोभ; **उत्पत्ति-लक्षणम्**—जागृत होने का लक्षण।

अनुवाद

"'जब कोई स्वरूपसिद्ध उन्नत भक्त वृन्दावन के भक्तों के कार्यों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य रसों—के विषय में सुनता है, तो वह इनमें से किसी एक की ओर उन्मुख हो जाता है और उसकी बुद्धि उसी ओर आकृष्ट हो जाती है। निस्सन्देह, वह उस विशेष भक्ति की ओर लुब्ध हो जाता है। जब ऐसा लोभ उत्पन्न हो जाता है, तो उसकी बुद्धि शास्त्र के आदेश, या तर्क पर आश्रित नहीं रहती।'

तात्पर्य

यह श्लोक भी *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२९२) में पाया जाता है।

बाह्य, अन्तर,—इहार दुई त' साधन ।
'बाह्ये' साधक-देहे करे श्रवण-कीर्तन ॥ १५६॥
'मने' निज-सिद्ध-देह करिया भावन ।
रात्रि-दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन ॥ १५७॥

बाह्य, अन्तर,—इहार दुइ त' साधन ।
'बाह्ये' साधक-देहे करे श्रवण-कीर्तन ॥ १५६॥
'मने' निज-सिद्ध-देह करिया भावन ।
रात्रि-दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन ॥ १५७॥

बाह्य—बाहरी रूप से; **अन्तर**—आन्तरिक रूप से; **इहार**—इस रागानुग प्रेम का; **दुइ**—दो; **त'**—वास्तव में; **साधन**—साधन; **बाह्ये**—बाहरी रूप से; **साधक-देहे**—एक उन्नत भक्त के शरीर में; **करे**—करता है; **श्रवण-कीर्तन**—श्रवण और कीर्तन; **मने**—मन में; **निज**—अपने; **सिद्ध-देह**—नित्य शरीर या आत्म-साक्षात्कार की स्थिति का; **करिया भावन**—विचार करके; **रात्रि-दिने**—रात और दिन; **करे**—करता है; **व्रजे**—वृन्दावन में; **कृष्णेर**—भगवान् कृष्ण की; **सेवन**—सेवा।

अनुवाद

"रागानुगा भक्ति बाह्य तथा आन्तरिक, इन दो विधियों से सम्पन्न की जा सकती है। जब उन्नत भक्त स्वरूपसिद्ध होता है, तो वह बाहर से कनिष्ठ जैसा बना रहता है और श्रवण तथा कीर्तन जैसे समस्त शास्त्रीय आदेशों का पालन करता रहता है। किन्तु वह अपनी मूल शुद्ध स्वरूपसिद्ध स्थिति में, अपने मन में विशिष्ट विधि से वृन्दावन में कृष्ण की सेवा करता है। वह चौबीसों घण्टे कृष्ण की सेवा में लगा रहता है।

सेवा साधक-रूपेण सिद्ध-रूपेण चात्र हि ।
तद्भाव-लिप्सुना कार्या व्रज-लोकानुसारतः ॥ १५८॥

सेवा साधक-रूपेण सिद्ध-रूपेण चात्र हि ।
तद्भाव-लिप्सुना कार्या व्रज-लोकानुसारतः ॥ १५८॥

सेवा—सेवा; **साधक-रूपेण**—साधना भक्ति करने वाले भक्त के बाह्य शरीर के साथ; **सिद्ध-रूपेण**—नित्य आत्म-साक्षात्कार में की जाने वाली सेवा के लिए उपयुक्त शरीर के साथ; **च**—तथा; **अत्र**—इस सन्दर्भ में; **हि**—निश्चित रूप से; **तत्**—उस; **भाव**—भाव को; **लिप्सुना**—प्राप्त करने की इच्छा वाले के द्वारा; **कार्या**—किया जाना चाहिए; **व्रज-लोक**—वृन्दावन में कृष्ण के एक विशिष्ट सेवक के; **अनुसारतः**—चरणचिह्नों का अनुसरण।

अनुवाद

"'रागानुगा भक्ति की ओर उन्मुख उन्नत भक्त (साधक) को वृन्दावन में कृष्ण के पार्षद-विशेष के कार्यों का अनुगमन करना चाहिए। उसे बाहर से वैधी भक्त की तरह भक्ति करने के साथ-साथ अपनी स्वरूपसिद्ध अवस्था में अन्दर ही अन्दर सेवा करनी चाहिए। इस तरह उसे बाहर तथा भीतर दोनों ही रूप में भक्ति करनी चाहिए।'

तात्पर्य

यह श्लोक *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२९५) में आया है।

निजाभीष्ट कृष्ण-प्रेष्ठ पाछेत' लागिया ।
निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हञा ॥ १५९॥

निजाभीष्ट कृष्ण-प्रेष्ठ पाछेत' लागिया ।
निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हञा ॥ १५९॥

निज-अभीष्ट—स्वयं द्वारा इच्छित; **कृष्ण-प्रेष्ठ**—कृष्ण के सेवक का; **पाछेत' लागिया**—अनुसरण करना; **निरन्तर**—निरन्तर; **सेवा**—सेवा; **करे**—करनी चाहिए; **अन्तर्मना**—अपने मन में; **हञा**—होकर।

अनुवाद

"वस्तुतः कृष्ण को वृन्दावनवासी अत्यन्त प्रिय हैं। यदि कोई रागानुगा भक्ति करना चाहता है, तो उसे वृन्दावनवासियों का अनुसरण करना चाहिए और अपने मन में निरन्तर कृष्ण-सेवा करनी चाहिए।

कृष्णं स्मरन्जनं चास्य प्रेष्ठं निज-समीहितम् ।
तत्तत्कथा-रतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा ॥ १६०॥
कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निज-समीहितम् ।
तत्तत्कथा-रतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा ॥ १६०॥

कृष्णम्—भगवान् कृष्ण का; **स्मरन्**—स्मरण; **जनम्**—एक भक्त; **च**—तथा; **अस्य**—उनके; **प्रेष्ठम्**—अत्यन्त प्रिय; **निज-समीहितम्**—स्वयं चुने गये; **तत्-तत्-कथा**—उन विषयों में; **रतः**—आसक्ति; **च**—तथा; **असौ**—वह; **कुर्यात्**—करना चाहिए; **वासम्**—निवास; **व्रजे**—वृन्दावन में; **सदा**—सदैव।

अनुवाद

"'भक्त को चाहिए कि वह अपने अन्तर में सदैव कृष्ण का चिन्तन करे और ऐसे प्रिय भक्त को चुने जो वृन्दावन में कृष्ण का सेवक हो। उसे उस सेवक की कथाओं के विषय में तथा कृष्ण के साथ उसके प्रेममय सम्बन्ध के विषयों का सदैव चिन्तन करना चाहिए और उसे वृन्दावन में निवास करना चाहिए। हाँ, यदि कोई शरीर से वृन्दावन नहीं जा सकता, तो उसे मानसिक रूप से वहाँ रहना चाहिए।'

तात्पर्य

यह श्लोक *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२९४) में आया है।

दास-सखा-पित्रादि-प्रेय्यसीर गण ।
राग-मार्गे निज-निज-भावेर गणन ॥ १६१॥

दास-सखा-पित्रादि-प्रेयसीर गण ।
राग-मार्गे निज-निज-भावेर गणन ॥ १६१॥

दास—सेवक; **सखा**—मित्र; **पितृ-आदि**—माता-पिता; **प्रेयसीर गण**—माधुर्य प्रेमिकाएँ; **राग-मार्गे**—रागानुग प्रेम सेवा के मार्ग पर; **निज-निज**—अपनी इच्छा के; **भावेर**—भाव की; **गणन**—गिनती।

अनुवाद

"कृष्ण-भक्त अनेक प्रकार के होते हैं—कुछ दास, कुछ मित्र, कुछ माता-पिता तथा कुछ प्रेयसी रूप में। जो भक्त इनमें से अपनी इच्छानुसार किसी भी रागवृत्ति में स्थित होते हैं, उन्हें रागमार्ग में प्रवृत्त माना जाता है।

न कर्हिचिन्मत्परा: शान्त-रूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।

यषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ १६२॥
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्त-रूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ १६२॥

न—नहीं; **कर्हिचित्**—किसी भी समय; **मत्-पराः**—मेरे भक्त; **शान्त-रूपे**—शान्ति की प्रतीक, हे माता; **नङ्क्ष्यन्ति**—नष्ट होंगे; **न उ**—न ही; **मे**—मेरा; **अनिमिषः**—काल; **लेढि**—नष्ट करता है; **हेतिः**—हथियार; **येषाम्**—जिनका; **अहम्**—मैं; **प्रियः**—प्रिय; **आत्मा**—परमात्मा; **सुतः**—पुत्र; **च**—तथा; **सखा**—मित्र; **गुरुः**—गुरु; **सुहृदः**—शुभचिन्तक; **दैवम्**—विग्रह; **इष्टम्**—इष्ट।

अनुवाद

"'हे माता देवहूति! हे शान्ति की प्रतीक! मेरा कालचक्र रूपी शस्त्र उन लोगों का विनाश नहीं करता, जिन्हें मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, जिनके लिए मैं परमात्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, हितचिन्तक, पूज्य देव तथा इच्छित लक्ष्य हूँ। चूँकि भक्तगण सदैव मुझ में अनुरक्त रहते हैं, अतः वे काल के दूतों द्वारा कभी विनष्ट नहीं होते।'

तात्पर्य

ये वचन कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति से कहे थे, जो *श्रीमद्भागवत* (३.२५.३८) में लिपिबद्ध हैं। कपिलदेव ने अपनी माता को सांख्य-योग की शिक्षा दी, किन्तु उसमें भक्तियोग की महत्ता का ही उल्लेख हुआ है। नास्तिकों द्वारा सांख्य-योग का अनुकरण किया गया, जिनकी प्रणाली एक भिन्न कपिलदेव, ऋषि कपिलदेव के द्वारा स्थापित हुई।

पति-पुत्र-सुहृद्भ्रातृ-पितृवन्मित्रवद्धरिम् ।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥ १६३॥
पति-पुत्र-सुहृद्भ्रातृ-पितृवन्मित्रवद्धरिम् ।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥ १६३॥

पति—पति; **पुत्र**—पुत्र; **सुहृत्**—सखा; **भ्रातृ**—भाई; **पितृ**—पिता; **वत्**—(के) रूप में;

मित्र—अन्तरंग मित्र; **वत्**—(के) रूप में; **हरिम्**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि का; **ये**—जो सभी; **ध्यायन्ति**—ध्यान करते हैं; **सदा**—सदैव; **उद्युक्ताः**—उत्सुकता से पूर्ण; **तेभ्यः**—उनके प्रति; **अपि**—भी; **इह**—यहाँ; **नमः नमः**—बारम्बार प्रणाम।

अनुवाद

"'मैं उन लोगों को बारम्बार नमस्कार करता हूँ, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का ध्यान उत्सुकतापूर्वक पति, पुत्र, सखा, भाई, पिता या घनिष्ठ मित्र के रूप में करते हैं।'

तात्पर्य

यह श्लोक *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.३०८) में आया है।

एइ मत करे येबा रागानुगा-भक्ति ।
कृष्णेर चरणे ताँर उपजय 'प्रीति' ॥१६४॥

एइ मत करे ग्रेबा रागानुगा-भक्ति ।
कृष्णेर चरणे ताँर उपजय 'प्रीति' ॥ १६४॥

एइ मत—इस प्रकार; **करे**—करता है; **ग्रेबा**—जो कोई भी; **रागानुगा-भक्ति**—रागानुगा भक्ति; **कृष्णेर चरणे**—कृष्ण के चरणकमलों में; **ताँर**—उसका; **उपजय**—जाग जाता है; **प्रीति**—स्नेह।

अनुवाद

"यदि कोई भगवान् की रागानुगा भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के लिए उसका स्नेह बढ़ जाता है।

प्रीत्यङ्कुरे 'रति', 'भाव'—हय दुइ नाम ।
याहा हैते वश हन श्री-भगवान् ॥१६५॥

प्रीत्यङ्कुरे 'रति', 'भाव'—हय दुइ नाम ।
ग्राहा हैते वश हन श्री-भगवान् ॥ १६५॥

प्रीति-अङ्कुरे—स्नेह के बीज में; **रति**—आसक्ति; **भाव**—भावना; **हय**—होती है; **दुइ नाम**—दो नाम की; **ग्राहा हैते**—जिससे; **वश**—वशीभूत; **हन**—हो जाते हैं; **श्री-भगवान्**—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्।

अनुवाद

"स्नेह के बीज में आसक्ति होती है, जिसके दो नाम हैं—रति तथा भाव। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ऐसी आसक्ति के वशीभूत हो जाते हैं।

तात्पर्य

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक पर भाष्य दिया है। भक्त बाह्य रूप से भक्ति की नवों विधियों—श्रवण, कीर्तन आदि को सम्पन्न करता है, किन्तु अपने मन के भीतर वह सदैव कृष्ण के साथ अपने सनातन सम्बन्ध का चिन्तन करता है और वृन्दावन के भक्तों के चरणचिह्नों का अनुसरण करता है। यदि कोई व्यक्ति इस तरह राधा-कृष्ण की सेवा में लगा रहता है, तो वह शास्त्रों में दिये गये विधानों के ऊपर उठ सकता है और अपने गुरु के माध्यम से कृष्ण की रागानुगा भक्ति में पूर्णतया लग सकता है। इस तरह वह कृष्ण के चरणकमलों में स्नेह प्राप्त करता है। कृष्ण वास्तव में ऐसे स्वत:स्फूर्त भावों के वशीभूत हो जाते हैं और अन्तत: मनुष्य को भगवान् की संगति प्राप्त हो सकती है।

याहा हैते पाइ कृष्णेर प्रेम-सेवन ।
एइत' कहिलुँ 'अभिधेय'-विवरण ॥ १६६॥

य्याहा हैते पाइ कृष्णेर प्रेम-सेवन ।
एइत' कहिलुँ 'अभिधेय'-विवरण ॥ १६६॥

य्याहा हैते—जिसके द्वारा; **पाइ**—मैं प्राप्त कर सकता हूँ; **कृष्णेर**—भगवान् कृष्ण की; **प्रेम-सेवन**—प्रेमपूर्ण सेवा; **एइत'**—यह; **कहिलुँ**—मैंने कहा है; **अभिधेय-विवरण**—अभिधेय का विस्तार से वर्णन।

अनुवाद

"जिस विधि से भगवान् की प्रेमाभक्ति प्राप्त की जा सकती है, उसका विस्तृत वर्णन मैंने अभिधेय नामक भक्ति के सम्पन्न करने के रूप में किया है।

अभिधेय, साधन-भक्ति एबे कहिलुँ सनातन ।
सङ्क्षेपे कहिलुँ, विस्तार ना याय वर्णन ॥ १६७॥

अभिधेय, साधन-भक्ति एबे कहिलुँ सनातन ।
सङ्क्षेपे कहिलुँ, विस्तार ना य़ाय वर्णन ॥ १६७॥

अभिधेय—इच्छित विषय प्राप्त करने का साधन; **साधन-भक्ति**—देह तथा इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली प्रेममयी सेवा; **एबे**—अब; **कहिलुँ**—मैंने वर्णन किया; **सनातन**—मेरे प्रिय सनातन; **सङ्क्षेपे**—संक्षेप में; **कहिलुँ**—मैंने कहा है; **विस्तार**—विस्तार; **ना य़ाय**—सम्भव नहीं है; **वर्णन**—वर्णन।

अनुवाद

"हे सनातन, मैंने साधन-भक्ति का संक्षिप्त वर्णन किया है, जो कृष्ण-प्रेम प्राप्त करने का साधन है। इसका विस्तार से वर्णन नहीं किया जा सकता।"

অভিধেয় সাধন-ভক্তি শুনে যেই জন ।
অচিরাত্পায় সেই কৃষ্ণ-প্রেম-ধন ॥ ১৬৮॥

अभिधेय साधन-भक्ति शुने य़ेइ जन ।
अचिरात्पाय सेइ कृष्ण-प्रेम-धन ॥ १६८॥

अभिधेय—अनिवार्य कर्तव्य; **साधन-भक्ति**—साधना भक्ति के; **शुने**—सुनता है; **य़ेइ जन**—जो व्यक्ति; **अचिरात्**—शीघ्र ही; **पाय**—प्राप्त करता है; **सेइ**—वह व्यक्ति; **कृष्ण-प्रेम-धन**—कृष्ण-प्रेम का खजाना।

अनुवाद

जो भी साधन-भक्ति की विधि को सुनता है, वह शीघ्र ही कृष्ण के चरणकमलों में प्रेमपूर्वक शरण प्राप्त करता है।

শ্রী-রূপ-রঘুনাথ-পদে যার আশ ।
চৈতন্য-চরিতামৃত কহে কৃষ্ণদাস ॥ ১৬৯॥

श्री-रूप-रघुनाथ-पदे य़ार आश ।
चैतन्य-चरितामृत कहे कृष्णदास ॥ १६९॥

श्री-रूप—श्रील रूप गोस्वामी के; **रघुनाथ**—श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी के; **पदे**—चरणकमलों में; **य़ार**—जिनकी; **आश**—आशा; **चैतन्य-चरितामृत**—*चैतन्य चरितामृत* नामक ग्रन्थ; **कहे**—वर्णन करते हैं; **कृष्णदास**—श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी।

अनुवाद

"श्री रूप तथा श्री रघुनाथ के चरणकमलों की वन्दना करते हुए तथा उनकी कृपा की सदैव कामना करते हुए मैं कृष्णदास उनके चरणचिह्नों पर चलते हुए श्रीचैतन्य-चरितामृत का वर्णन कर रहा हूँ।

इस तरह श्रीचैतन्य-चरितामृत की मध्यलीला के बाइसवें अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ जिसमें भक्ति करने का वर्णन हुआ है ।